आलोचना

७ अप्रैल १९५३

(एक अंक ३)

आलोचना

सम्पादकीय

हिन्दी-समीक्षा का गहन दायित्व

हिन्दी के समकालीन साहित्य-सृजन में आज सम्भवतः आलोचना का क्षेत्र सर्वाधिक जन-संकुल है। उत्साह और परिमाण दोनों दृष्टियों से आज वहीं सबसे अधिक क्रियाशीलता परिलक्षित होती है। हिन्दी-साहित्य जिस द्रुत गति से विकसित हो रहा है, उसके सांस्कृतिक मूल्यों में जितनी तेजी से परिवर्तन हो रहा है, भावभूमि में जितना गहन विक्षोभ आ गया है, नवीनतम चेतनाओं को ग्रहण करने की जो आतुरता है, शिल्प के स्तर पर जितनी सशक्त अन्वेषण-प्रवृत्ति जाग उठी है, भाषा और उसकी शक्तियों को जितने अप्रत्याशित मोड़ दिये जा रहे हैं, और हमारी साहित्यिक चेतना अपनी परम्परागत सीमाओं को तोड़कर देश-विदेश के जिन नये क्षितिजों को छूकर समृद्ध होती जा रही है, उसे देखते हुए सृजन के साथ-साथ समीक्षात्मक वृत्ति का इस तरह जाग उठना और क्रियाशील हो जाना स्वाभाविक ही है तथा यह हिन्दी की स्वस्थ जागरूकता का ही प्रमाण है।

किन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है जिसकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जा रहा है। साहित्य के विकास में इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण मोड़ पर उसकी उपेक्षा करना कहीं अत्यन्त घातक न सिद्ध हो, इसका गम्भीर खतरा है। हिन्दी की आलोचना क्रियाशील अवश्य है किन्तु अपनी साहित्यिक परम्पराओं और समकालीन परिस्थितियों की सापेक्षता में उसने अपने गम्भीर दायित्व को भी पहचाना है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। किसी भी साहित्य के स्वस्थ और सर्वांगीण विकास में समीक्षात्मक वृत्ति—चाहे वह कितनी भी क्रियाशील क्यों न हो—तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि उसका उचित निर्देशन करने के लिए एक व्यापक, उदार, सर्वांगीण, वस्तुपरक और वैज्ञानिक समीक्षा-दृष्टि विकसित नहीं होती। उस संयमित और सन्तुलित दृष्टि के अभाव में यह सारा समीक्षात्मक अभियान लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है, नये सृजन में सहायक न होकर उसे कुण्ठित कर डालता है, पुरानी परम्पराओं को नये रूपों में विकसित न करके उनके प्रति गलत दृष्टिकोण बना लेता है, इतिहास की विकृत व्याख्याएँ करने लगता है, साहित्य और जन-

जीवन के सही सम्बन्ध-सूत्रों को दृढ करके उन्हें विच्छिन्न और जर्जर कर डालता है। परिणाम यह होता है कि युक्तियुक्त वैज्ञानिकता, उदारता, सहानुभूति और सन्तुलन के तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और साहित्यिक वातावरण में आतंक, कटुता, दलगत पूर्वग्रह, अराजकता और संकीर्णता छा जाती है, गलत मानदण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनसे अनुशासित साहित्य कुण्ठित, बौना, जर्जर, क्षणिक और खोखला बन जाता है। अपने वास्तविक उत्तरदायित्व को न पहचानकर, समीक्षक भी सन्तुलन खो बैठता है और या तो वह पुरानी रूढियो के घेरे मे आश्रय खोजने की चेष्टा करता है, या आवेश में राजनीतिक 'कमिसार' का अभिनय करने लगता है, या केवल शिल्प और शैली की पच्चीकारी के ह्रासोन्मुख वातावरण मे अपने को भुलावा देना चाहता है। वास्तव में उसके ये तीनों ही रूप अपने विराट् दायित्व को समग्रता से स्वीकार न कर पाने के अनिवार्य परिणाम है। इनसे ग्रस्त समीक्षा न केवल स्वत' पथ-भ्रष्ट हो जाती है, वरन् उससे प्रभावित और निर्देशित प्रतिभाएँ भी मरु-मरीचिकाओं मे भटककर समाप्त हो जाती हैं। और—अब वह समय आ गया है जब हमे साहस और ईमानदारी से यह स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दी-समीक्षा समवेत रूप से अभी तक अपने विराट् दायित्व को आत्मसात् नही कर पाई है और यदि छायावाद-काल से लेकर आज तक, हमारे प्रमुख कलाकारो और साहित्यिक निकायो (Schools) की अपनी अभिरुचि मे थोडा बहुत परिष्कार न होता और अपने विश्वासो का बल न होता तो आधुनिक हिन्दी-साहित्य और भी अधिक निर्धन होता, उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियाँ और भी कुण्ठित हो गई होतीं, उसकी भावभूमि में और भी अधिक विकृतियाँ आ गई होती।

हिन्दी-समीक्षा अपना दायित्व क्यों नहीं ग्रहण कर पाई, इसका प्रमुख कारण यह है कि किसी भी जाति या समाज के सांस्कृतिक जीवन की चिर विकासशील प्रगति में साहित्य का सही मूल्य क्या होता है, उसकी शक्ति के मूलाधार क्या होते हैं, उसका अपना विकास किस सीमा तक जाति के आर्थिक या राजनीतिक विकास के समानान्तर होता है, वह किस सीमा तक अपने पृथक् नियमों से परिचालित होता है, साहित्यकार व्यक्ति के रूप में कैसे सामाजिक प्रभावों को ग्रहण करता है, रचनाकार के रूप मे किन मानसिक प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है, अपनी परम्परा से उसका क्या सम्बन्ध होता है, कलाकार के रूप मे उसके द्वारा विकीर्ण सामाजिक प्रभाव की कौन सी विशिष्टताएँ होती है, आज तक सांस्कृतिक इतिहास मे कौन से मानवीय मूल्य ऐसे हैं जो अपेक्षाकृत स्थायी और चिर-मर्मस्पर्शी है और सामयिक समस्याओ के सामयिक समाधानो की सापेक्षता मे उनका क्या महत्त्व है और किस प्रकार एक चिर प्रवहमान सांस्कृतिक परम्परा इन समस्त तत्त्वो को आत्मसात् करती हुई महा काल की अनादि और अनन्त धारा के रूप मे बहती हुई चली जाती है, इन समस्त प्रश्नों पर या तो हिन्दी-समीक्षक ने विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी, या उसने इनके विषय में कुछ एकांगी, अधूरी और अपरिपक्व मान्यताओं को ही समीक्षा के वैज्ञानिक मानदण्ड समझने की भूल कर डाली। एक वाक्य मे यह कहा जा सकता है कि हिन्दी की समीक्षा का 'कैनवस' उसके दायित्व को देखते हुए बहुत छोटा रहा है। उस 'कैनवस' के विस्तार की ओर संकेत करना अत्यन्त आवश्यक है।

कोई भी साहित्यिक कृति या धारा अपने मे निरपेक्ष, निस्संग, असम्पृक्त कृति या धारा नही होती। उसके पीछे एक लम्बी काव्य-परम्परा होती है। वह काव्य-परम्परा किसी विशेष जाति या समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक कृतित्व का एक अंग-मात्र होती है। उसके

पीछे उस जाति के सुख-दुःख, संघर्ष और समन्वय, चिन्तन और अनुभूति के सैकड़ों और हजारों वर्ष के इतिहास की सञ्चित परम्परा रहती है। वह क्षण, जिसमें वह कृति रची गई, उस लम्बे इतिहास की ही एक सम्बद्ध कड़ी है और वह कलाकार उसी समूह की एक इकाई है, फिर भी किसी विशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया और रचना-प्रणाली के बल पर सृजन का वह क्षण समस्त परम्परागत इतिहास से अधिक सजीव और मर्मस्पर्शी बन जाता है। कलाकार में एक विशिष्टता है जिसके बल पर वह काल-प्रवाह के उस एक बिन्दु को शब्दों में बाँधकर युग-युग के लिए स्थायी कर देता है। उस क्षण में उसके द्वारा अनुभूत भाव-सत्य केवल उसका और उस क्षण का ही न रहकर साधारणीकृत और स्थायी भी हो जाता है। इस समस्त प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए किसी भी कृति के मूल्यांकन में तीन तत्त्वों पर विचार करना अनिवार्य है। ये तीन तत्त्व अलग नहीं हैं, न इन पर एक-दूसरे से पृथक् रूप में विचार हो सकता है। ये तीनों समीक्षा के तीन आयाम (dimensions) हैं और किसी भी एक के बिना शेष दो निरर्थक हैं। एक कला-कृति पहले रूप में एक सञ्चित शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौन्दर्य-बोध और परम्परागत काव्य-शृङ्खला की विशिष्ट कड़ी होती है। दूसरे रूप में वह एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि होती है और उसका एक सामाजिक मूल्य होता है, उसके पाठक या श्रोता होते हैं जो उससे प्रभावित होते हैं और उसका प्रभाव एक सामाजिक महत्त्व रखता है। तीसरे रूप में वह एक व्यक्ति की, एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है और कुछ विशिष्ट तत्त्वों से समन्वित होकर वह कला-कृति का महत्त्व प्राप्त करती है। किसी भी कला-कृति या प्रवृत्ति का मूल्यांकन करते समय यदि इनमें से एक भी पक्ष की उपेक्षा की गई तो वह समीक्षा एकांगी बन जाती है। दुर्भाग्य से हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में यह भूल बार-बार हुई है और यही नहीं वरन् बहुधा यह भी देखा गया है कि आलोचकों के दलों ने इस एकांगिता को ही अपनी विशिष्टता के रूप में प्रचारित किया और अज्ञानवश अपने एकांगी मार्ग के अतिरिक्त अन्य सभी मार्गों का सक्रिय विरोध किया। एक ओर वे लोग रहे जिन्होंने परम्परा के नाम पर, शास्त्रीयता के नाम पर उन रूढ़ियों का समर्थन किया जिनका सारा अर्थ नष्ट जीवन्त सांस्कृतिक परम्परा की सापेक्षता में हो चुका था, जिन्हें किसी भी प्रकार के प्रगतिशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रश्रय देना स्वीकार नहीं था। दूसरी ओर ऐसे भी लोग रहे जिन्होंने प्रगतिशीलता और वैज्ञानिक समाजवाद के नाम पर दलगत राजनीति एवं नितान्त अवैज्ञानिक पद्धतियों का प्रचार किया और तीसरी ओर ऐसे भी लोग रहे जो साहित्य के विराट् सांस्कृतिक 'कैनवस' और महत्त्वपूर्ण सामाजिक स्थिति को पूर्णतया भूलकर केवल उसकी वैयक्तिक स्थिति, रचना-प्रक्रिया, शिल्प और सौन्दर्य-बोध का अन्वेषण करते रहे। तीनों का ही सत्य आंशिक था, अतः एक विराट् समग्रता में समन्वित न होने के कारण वह विकलांग और हानिकर ही सिद्ध हुआ।

सबसे पहले परम्परा की बात उठाई जाय। परम्परा की बात इसलिए भी हिन्दी के प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि बहुत कम ऐसी भाषाएँ हैं जिनके पीछे इतनी लम्बी, इतनी समृद्ध और इतनी जटिल परम्परा हो जितनी कि हमारी भाषा के पीछे है। हम चाहे विरोध करें या समर्थन, चाहे संरक्षण ग्रहण करें या निर्वासन; किन्तु हर मोड़ पर हमारी परम्परा ने हमारी गति को एक निश्चित रुख दिया है,

हम उससे मुक्त नहीं हो पाए हैं और न वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी अपनी परम्परा और जातीय संस्कारों से मुक्त हो सकता है। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि रीति काल ने आधुनिक काल को शास्त्रीय परम्परा के नाम पर जो दृष्टिकोण दिया था वह स्वतः अत्यन्त एकांगी और संकीर्ण था। वह काव्य-शास्त्र संस्कृत-काव्य-शास्त्र का अपरिपक्व हिन्दी उल्था-मात्र था। संस्कृत उस समय जन-भाषा न थी। न जाने कितनी शताब्दियों से संस्कृत केवल पण्डितवर्ग की भाषा रह गई थी और लोक-व्यवहार से जो नित्य नये संस्कार किसी भी साहित्य-परम्परा को मिलाते हैं, संस्कृत उनसे वंचित हो गई थी। अपभ्रंश और उसके बाद स्वयम्भू से लेकर तुलसी तक हिन्दी को जो प्राणवान् लोक-स्पर्श मिला था, जितनी धाराएँ और परम्पराएँ उसमें समाहित हो गई थीं, चन्द, कबीर, मीरा, जायसी, सूर और नन्ददास ने जितने स्तरों की अनुभूतियों से हिन्दी-काव्य धारा को समृद्ध कर दिया था उनका समाहार उस काव्य-शास्त्र में नहीं हो पाया जो रीति काल के आचार्य कवियों द्वारा अपनाया गया। वह हिन्दी का तो प्रतिनिधि काव्य-शास्त्र था ही नहीं, संस्कृत में भी मध्य काल में विभिन्न धर्म-साधनाओं ने काव्य-शास्त्र में जो नवीन उद्भावनाएँ की थीं—जैसे तन्त्र निर्देशित भाषा की मन्त्र-शक्ति, वैष्णवों द्वारा अनुमोदित 'महाभाव', 'समाधि-भाषा' आदि—उनका भी कोई विचार उस काव्य-शास्त्र में नहीं था। वह संस्कृत-काव्य-शास्त्र की कुछ विशेष परम्पराओं का ही सीमित प्रतिनिधि था। आधुनिक युग के साथ जब सहसा एक नई सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ और नये काव्य-रूप और नये ढंग की कृतियाँ सम्मुख आईं तब उस काव्य-शास्त्र की कमी सहसा अनुभव होने लगी और वे मानदण्ड अपर्याप्त सिद्ध होने लगे। शास्त्रीय विद्वानों का एक वर्ग तो ऐसा भी रहा कि परम्परा के मोह में उसने खड़ी बोली की तमाम नई साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही अन्ध विरोध न किया प्रत्युत अपने चिन्तन-विकास के समस्त द्वार ही बन्द कर लिए। आज ऐसे लोगों की संख्या उँगलियों पर ही गिनी जाने लायक बच रही है, किन्तु किसी समय उनसे साहित्य की विकासशील धारा को कितना कठोर संघर्ष मोल लेना पड़ा था यह 'पल्लव' की भूमिका से आज भी अनुमान किया जा सकता है। किन्तु एक वर्ग आलोचकों का ऐसा भी था जिसने युग-धर्म का स्वागत किया और पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र को यथोचित सम्मान दिया और नये साहित्य के आकलन के लिए नई कसौटियाँ स्वीकार कीं। कहीं-कहीं उन्होंने नये वैज्ञानिक सिद्धान्तों की कसौटी पर शास्त्रीय परम्परा को कसकर खरा दिखाने का भी प्रयास किया।[1] इस प्रकार अपनी परम्पराओं से उन्मूलित हुए बिना उन्होंने जिस सीमा तक नई चेतनाओं को प्रश्रय दिया, वहाँ तक आज भी आचार्य शुक्ल अद्वितीय और अपराजेय हैं। उनकी सीमाएँ वहीं हैं जहाँ उन्होंने शास्त्र की गतिशील विकासमान प्रकृति को मान्यता नहीं दी। स्वस्थ और जीवनदायी समझौता या समन्वय सदैव दो जीवन्त और विकासशील परम्पराओं में होता है। यदि उनमें से एक भी परम्परा का विकास अवरुद्ध हो चुका है, वह पथरा चुकी है और बिना पुनर्मूल्यांकन के उसे यथावत स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह दूसरी जीवन्त परम्परा को भी कुण्ठित और अवरुद्ध कर डालती है। आचार्य शुक्ल के अद्वितीय व्यक्तित्व के प्रति सम्पूर्ण समादर रखते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इसी कारण उनकी दृष्टि कई स्थलों पर संकुचित रह गई थी और वे अपने समकालीन कई आन्दोलनों

१. शुक्लजी—'रस और मनोविज्ञान'

को वह सहानुभूति नहीं दे पाए थे जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती थी। फिर भी जिस स्तर पर उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को छोड़ा था और प्रथम इतिहास प्रस्तुत करके परम्परा के ऐतिहासिक मूल्यांकन का जो सूत्रपात किया था उसको उनके परवर्ती समीक्षक आशा के अनुरूप नहीं बढ़ा पाए।

'परम्परा का ऐतिहासिक मूल्यांकन', इसीलिए आवश्यक था कि हम परम्परा को जीवित रख सकें, उसे अपना सम्बल बना सकें। वह ऐसी उर्वर भूमि बनी रहे जिसमें हमारे चिन्तन की जड़ें अधिक-से-अधिक खुराक पा सकें। हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी चिन्तन-धारा के प्रवेश के साथ इस बात की सम्भावना दीख पड़ी कि यह चिन्तन-प्रणाली इस विराट् कार्य को पूरा करेगी किन्तु प्रारम्भ से ही इस निकाय का दृष्टिकोण इतना एकांगी रहा कि कम-से-कम इनके हाथों से शास्त्रीय परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की आशा जाती रही। यही नहीं बल्कि वर्ग संघर्ष और जनवादी सांस्कृतिक परम्परा के जटिल रूप को समझे बिना इन्होंने समस्त प्राचीन संस्कृति को सामन्तवादी संस्कृति करार देकर उससे विच्छिन्न हो जाने का भी नारा लगाया। यह नारा न केवल अवैज्ञानिक था, वरन् मार्क्सवाद की भी एक गलत व्याख्या थी। तत्कालीन स्थिति ने उनके मन में बहुत-सी ऐसी मध्यमवर्गीय कुण्ठाओं और पूर्वग्रहों को उभार दिया था और वह खुद एक ऐसे बूर्जुआ अहंकार से ग्रस्त थे जिनके कारण उनके मन के समाज-विरोधी ग्रह प्रबल थे और शेष सामाजिक जीवन से वे लोग विच्छिन्न और उन्मूलित हो चुके थे। इसलिए जब उन्होंने सांस्कृतिक परम्परा के विरुद्ध आवाज उठाई तो वह वास्तव में उनकी एक स्वतः मनोविकृति की अभिव्यक्ति थी, मार्क्सवाद तो केवल बाह्य आवरण था। किन्तु इससे जिस सीमा तक मार्क्सवाद ने एक ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की थी उसका महत्त्व कम नहीं होता। संस्कृति को एक जड़ तत्त्व न मानकर उसको ऐतिहासिक विकास की सापेक्षता में जिसने भी ग्रहण किया और उसके लोकपरक तत्त्वों को पहचाना, उसकी व्याख्याएँ निस्सन्देह अपना महत्त्व रखती हैं। ब्रिटेन के मार्क्सवादी इण्डालाजिस्ट ग्रुप और सोवियत के कुछ भारतीय इतिहासवेत्ताओं ने भी इस दिशा में ठोस और गम्भीर कार्य किया है। अगर हिन्दी में भी यह दृष्टि स्वस्थ रीति से विकसित होती चलती तो आज हमारे इतिहास का रूप ही दूसरा होता।

किन्तु एक दूसरी दिशा से भारतीय ऐतिहासिक परम्परा का पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ था और उसके लोक-तत्त्वों को समुचित प्रश्रय मिल रहा था। वह था गांधी के नेतृत्व में चलने वाला भारतीय जनान्दोलन और उससे प्रभावित गुरुदेव द्वारा स्थापित शान्तिनिकेतन। शान्तिनिकेतन में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों का एक बहुत बड़ा दल मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के लोकपरक तत्त्वों के संग्रह और संरक्षण में लग गया। सन्तों और बाउलों की वाणियाँ, अजन्ता की कला, मणिपुर के लोक-नृत्य, सन्थालों का लोक-जीवन और मध्यकालीन अगणित धर्म-साधनाएँ (जो भारतीय जनान्दोलनों के धार्मिक रूपान्तर-मात्र थे) इन सबका एक स्वस्थ वैज्ञानिक मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ और जो अवशिष्ट परम्पराएँ जन-जीवन में बच रही थीं उनका पुनरुत्थान करके अपने समस्त अतीत को वर्तमान के जीवन्त क्षणों में प्रतिफलित करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास बहुत बड़े स्तर पर हुआ। बहुत दिनों तक हिन्दी इस दृष्टिकोण से वञ्चित रही किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की महत्त्वपूर्ण पुस्तिका 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में जब हिन्दी को अपनी इस परम्परा के नये सामाजिक मूल्यांकन

की एक छोटी-सी झलक मिली तो अपने वैभव और अपनी समृद्ध विरासत पर वह स्वतः स्तब्ध हो गई। उसमें तथा उनकी अन्य कृतियों में अपनाया गया दृष्टिकोण प्राचीनतम और नवीनतम का अद्भुत सम्मिश्रण था, उसकी सामाजिक दृष्टि यान्त्रिक, अवैज्ञानिक और ऊपर से थोपी हुई नहीं थी, वह दृष्टि अपनी परम्परा से नये वैज्ञानिक आधारों पर विकसित हुई थी। उसमें कबीर से लेकर रवीन्द्र तक की व्यापक मानवतावादी दृष्टि का सचित सस्कार था। वह अध्ययन-परम्परा उस गति से आगे न बढ पाई जैसी कि बढनी चाहिए थी, क्योंकि हिन्दी विदेशी शासकों द्वारा एक सकीर्ण राजनीतिक सघर्ष में उलझा दी गई थी और उसकी शक्तियाँ उधर लगी हुई थी, किन्तु फिर भी उसने अपनी परम्पराओ के ऐतिहासिक मूल्याकन की दिशा खोज निकाली है, इसमे सन्देह नही।

इस बीच मे चुपचाप हिन्दी-क्षेत्रों में एक महत्त्वपूर्ण कार्य होता रहा जिसका उपयोग आगे चलकर और भी स्पष्ट हो सकेगा। विभिन्न सास्कृतिक सस्थाओं, विद्वानों और विश्वविद्यालयो के हिन्दी-विभागों के अन्तर्गत बहुत बड़े परिमाण में हिन्दी की लिखित निधि की खोज होती रही और आदिकालीन और मध्यकालीन कृतियों, प्रवृत्तियों और धाराओं के इतिहास की सामग्री जुटाई जाती रही। इस कार्य मे जनश्रुतियो और अप्रामाणिक किम्वदन्तियो को आधार न बनाकर ठोस वैज्ञानिक आधारो का आश्रय ग्रहण किया गया और एक नई दृष्टि का विकास हुआ। यही नही वरन् पाठ्यालोचन, भाषा-विज्ञान, इतिहास-शास्त्र, तुलनात्मक समीक्षा और लोक-साहित्य की दिशाओ मे ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुए, जिन्होने हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र को बहुत विस्तार प्रदान कर दिया है। निस्सन्देह अपनी सास्कृतिक परम्परा के मूल्याकन और शास्त्रीय पद्धति के विकास के लिए आज हमारे पास जितने अधिक साधन हैं और उसका क्षेत्र जितना विकसित और विस्तृत हो गया है। हिन्दी समीक्षक का दायित्व भी उतना ही गहन हो गया है। अपने साहित्यिक विकास की जड़े परम्परा मे और भी गहरी और मजबूत करने के लिए हमें अपनी समस्त परम्परा के प्रत्येक सूत्र के सामाजिक पुनर्मूल्याकन के कार्य में सलग्न हो जाना है और अपनी सास्कृतिक विरासत की लोक-परम्पराओ और प्राणवान् धाराओं द्वारा विकसित मूल्यो को पुनः प्रस्थापित करके वर्तमान सास्कृतिक अभियान को एक वैज्ञानिक उदार जनवादी दिशा प्रदान करनी है।

वर्तमान का प्रश्न आते ही साहित्य के दूसरे पक्ष पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है जिसमे साहित्य वर्तमान समाज-व्यवस्था का एक सास्कृतिक अग होता है, वह उस व्यवस्था से प्रभावित होता और उसे प्रभावित करता है। समाज द्वारा मान्य नैतिक धारणाओ की कसौटी पर साहित्य को कसने का प्रयास नया नही है, और न साहित्य से सामाजिक समस्याओ के समाधान माँगने का ही प्रयास नया है। भारतीय परम्पराओं में "शिवेतरक्षतये" कहकर उसकी इस स्थिति की ओर सकेत किया गया है और ग्रीक-परम्परा मे तो कवि की सामाजिक स्थिति पर समीक्षकों में गहरा मतभेद रहा है। पश्चिम मे मध्यकालीन ईसाई-मठ साहित्य के सामाजिक प्रभाव के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। मार्क्सवाद की मौलिकता यह नही है कि उसने साहित्य के सामाजिक महत्त्व को पहचाना, उसकी मौलिकता यह है कि साहित्य को उसने अपने राजनीतिक सघर्ष और क्रान्ति-दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण प्रचार-शास्त्र का स्थान दिया और उसके समर्थन मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्रत्येक युग का साहित्य किसी-न-किसी विशेष वर्ग के प्रचार का साधन रहा है। साहित्य की सामाजिक स्थिति के प्रति यह एक

अतिवादी दृष्टिकोण है जिसके निराकरण की कई भावभूमियाँ मार्क्स और एंजेल्स से लेकर गोर्की तक के लेखन में मिलती हैं, लेकिन बाद में कुत्सित समाजशास्त्रियों और दलगत स्वार्थों के लिए साहित्य का राजनीतिक दुरुपयोग करने वालों ने इस अतिवादी दृष्टिकोण को विकृति की सीमाओं तक पहुँचा दिया। यह अतिवाद केवल मार्क्सवादी शिविर मे ही हो ऐसी बात नही है—मध्य काल मे जिन धर्मान्ध विजेताओं ने नालन्दा के विशाल पुस्तकालय और कलात्मक वैष्णव-मन्दिरों को कुफ्र करार देकर जला दिया या तोड़ दिया, जिन कैथोलिक पादरियों ने ग्राहम-ग्रीन के उपन्यासों को पापपूर्ण मानने का आन्दोलन चलाया, जिन नाजियों ने आइन्स्टीन को देश-निकाला दिया, जिन राजनीतिक 'कमिसारों' ने 'डास्टावस्की' के साहित्य के पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाया, और जिन शुद्धतावादियों ने सूर के साहित्य को कामुक और अनैतिक करार दिया, वे सभी एक ही अतिवादिता के शिकार रहे हैं, वह अतिवादिता, जो अपने एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण साहित्य के सामाजिक उपयोग की सूक्ष्मता को ठीक-ठीक नही समझ पाती। ऐसे लोग साहित्य द्वारा समाज का हित चाहते हैं लेकिन अज्ञानपूर्ण और अवैज्ञानिक ढंग से।

इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसीमे है कि वह हमारी चेतना मे बहुत गहरे उतरकर हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है, उन्हे एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी संकीर्ण मतवाद का प्रचार करे या न करे, वह किसी भी तात्कालिक समस्या का स्पष्ट समाधान दे या न दे, किन्तु यदि उसमें यह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियों को संस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है। टाल्स्टाय की राजनीति क्या थी, शेक्सपीयर ने अपने समय के किसी दंगे में किसका पक्ष लिया था, तुलसी ने किस सामन्त से दक्षिणा ली थी और टी० एस० ईलियट किस ईसाई-सम्प्रदाय का अनुयायी है, यदि पाठक यह नही जानता फिर भी इनका साहित्य उसके हृदय को छूता है, उसकी वृत्तियों को परिष्कृत करता है, उसके सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करता है, उसके व्यक्तित्व को सामाजिक बनाता है, उसमे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, उसकी दायित्व-भावना को सचेत करता है—संक्षेप मे यदि वह उसे जीवन-प्रक्रिया के प्रति उद्बुद्ध करता है, और समाज की अधिक सुसंस्कृत इकाई भी बनाता है तो उसने अपना दायित्व पूरा किया है। बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली विषमताओं, विकृतियों तथा असन्तुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हीका परिहार एव परिष्कार करता है। कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसीको पौराणिक और काल्पनिक देश-काल और पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेता है। साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से, संस्कृति की विराट् प्रक्रिया मे योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध उसके माध्यम हैं, और युग, काल एव स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती है, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है।

यह तो हुई समग्र रूप मे साहित्यिक के सामाजिक देय की बात। वैयक्तिक दृष्टि से भी उसकी कई विलक्षणताएँ होती हैं। प्रत्येक साहित्यकार की समीक्षा-दृष्टि भी उतनी ही पैनी हो यह आवश्यक नही। बहुत-से कलाकार ऐसे

हैं जो अनजाने ही इस संस्कृति-निर्माण मे अपना देय देते रहते हैं, जबकि वे प्रत्यक्ष रूप से कला की सामाजिक उपयोगिता को न तो स्वीकार ही करते हैं और न अपने को उसका अनुगामी मानते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी साहित्यकार हैं जो प्रत्यक्ष रूप से किसी विशेष मतवाद के अनुयायी हैं, किन्तु उनके साहित्य मे उनकी घोषित नीति के सर्वथा विरुद्ध प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। पुनश्च अधिकाश साहित्यकारों में दोनो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ रहती हैं, उनका अनुपात चाहे जो भी हो। और बहुत से कलाकार ऐसे भी होते हैं जिनके घोषित विचार अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं। अपनी कला में वे उन्ही-को प्रतिष्ठित भी करते है, किन्तु कही-न-कही रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध का आश्रय उनसे छूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कला जन-मन मे गहरी उतरकर वृत्तियो को सस्कार नहीं प्रदान कर पाती और इसी प्रकार दूसरे ढग से वह निष्फल सिद्ध होती है।

समीक्षक को किसी भी कृति की सामाजिक उपादेयता का मूल्याकन करते समय इन जटिल सूक्ष्मताओ का पूरा ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा कुछ सतही, एकागी और हानिकर दृष्टिकोण उभर आते है, जो उसे एक भ्रमपूर्ण स्थिति मे डाल देते है। सस्कृति केवल धार्मिक कट्टरता, राजनीतिक अवसरवादिता और सतही नैतिकता से अधिक व्यापक है, उसका केन्द्र-बिन्दु मनुष्य का समग्र अस्तित्व है, जो कही अधिक गहन और बहुमुखी है। सस्कृति और समाज-व्यवस्था के तात्कालिक और दीर्घसूत्री सम्बन्धो के विषय मे मार्क्स के बाद के समाजशास्त्रियों ने मानव-शास्त्र (Anthropology) और मनोविज्ञान आदि अन्य कितनी ही वैज्ञानिक पद्धतियो का आश्रय ग्रहण करके इन जटिलताओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। यदि अपनी विचार-पद्धति में समीक्षक इस नये ज्ञान-क्षेत्र के प्रति जागरूक नही रहता तो वह अनजाने ही एका-गिता का शिकार हो जाता है। सामाजिक उप-योगिता पर निर्णय देते समय उसे बहुत गहरे पैठने की आवश्यकता होती है। यह एक खतरनाक किन्तु आकर्षक अस्त्र है और समय-समय पर धर्म, वर्ग तथा राजनीतिक दल समीक्षा के इस अग का दुरुपयोग करते आए हैं और आज भी कर रहे है। निस्सदेह कलाकार और समीक्षक दोनो पक्षधर (Partison) होते हैं किन्तु सास्कृतिक स्तर पर पक्षधरता का वही रूप नही रह जाता जो राजनीतिक स्तर पर रहता है। सेल्डेन राडमन ने एक स्थान पर कहा है:"अगर किसी के लिए भी सघर्ष से असम्पृक्त रहना आवश्यक है तो कलाकार के लिए। अगर किसी के लिए भी सघर्ष मे डूबना आवश्यक है तो कलाकार के लिए। उसको पक्ष भी ग्रहण करना चाहिए और फिर भी अपने आधे हृदय की सारी सहानुभूति शत्रु के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए। क्रान्ति के दिनो मे युद्ध, शान्ति और सामाजिक न्याय की विशाल समस्याओं के सामने वैयक्तिक नैतिक समस्याएँ और जीवन-प्रवृत्तियाँ बिलकुल तिनके के समान लगने लगती हैं—लेकिन कविता यदि कविता बनी रहना चाहती है तो उसे इन सामूहिक समस्याओ का आकलन, इन छोटे केन्द्र-बिन्दुओ से उद्भूत भावनात्मक प्रतिक्रियाओ के आधार पर—दूसरे शब्दो में पार्टी की नीति के बजाय मानवीय मूल्यो के आधार पर करना चाहिए।" आज ससार की जो स्थिति है (और हिन्दी-भाषी प्रदेश उससे अलग नही है!) उसमे इन समस्त जटिलताओं में मानवीय मूल्यो के आधार पर कला की सामाजिक उपादेयता समझने की आव-श्यकता और भी प्रखर है, क्योंकि शेष आधार कितने अस्थायी, छिछले और हानिकार हैं यह हिन्दी-समीक्षा के पिछले १५ वर्षों में कई बार सिद्ध हो चुका है।

तीसरे पक्ष अर्थात् रचना-प्रक्रिया और कला की प्रेषणीयता के पक्ष के अध्ययन का तो क, ख, ग भी प्रारम्भ नहीं हुआ है। बहुत समय तक तो इस पक्ष की ओर ध्यान भी नहीं दिया गया था, किन्तु नई कविता के साथ स्वतः कवियो के वक्तव्यों ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है। इसी अक मे प्रकाशित प्रस्तुत प्रश्न के निबन्धो से स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर एक सर्वथा नई दृष्टि से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। निस्सन्देह इसके लिए विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान एक ठोस आधार हो सकता है, किन्तु सम्यक् रूप से अपनी शास्त्रीय परम्परा से तुलनात्मक अध्ययन किये बिना अपरिपक्व रूप मे केवल साहित्यिक फैशन के रूप मे पाश्चात्य वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित समीक्षा-शैलियो को अपनाना सम्भवतः श्रेयस्कर सिद्ध न हो। यही नही वरन् यह भी भली भाँति समझ लेना चाहिए कि मनोविज्ञान रचना-प्रक्रिया की यान्त्रिक प्रणाली का ही विवरण देता है। उसकी सजीव प्रेरणा और रागात्मक मूल्य का पूर्ण रहस्योद्घाटन करने मे वह आज भी पूर्णतया सम्पन्न नही हो पाया है। आस्तिक अस्तित्ववादी दार्शनिक कार्ल यास्पर्स ने मनोविश्लेषण-शास्त्र को कड़ी समालोचना करते हुए कहा है कि "मनोविश्लेषण शास्त्र एक नया विश्वास है जिसके मूल मे कुछ अवैज्ञानिक भ्रान्तियाँ है।" मनुष्य के व्यक्तित्व को समझने के लिए मनोविश्लेषण जिस सीमा तक सहायक हुआ है उसे वह स्वीकार करता है, किन्तु रुग्ण मन सहज और स्वाभाविक मन का स्थानापन्न नहीं होता। साथ ही मनोविश्लेषण केवल उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है, उसके परिशोधन की ओर उसकी प्रवृत्ति कम है। यहाँ पर कार्ल यास्पर्स एक ऐसी दार्शनिक दृष्टि की आवश्यकता की ओर सकेत करता है जो इन समस्त विचार-सरणियों को समग्रता के एक विराट् दर्शन (Vision) मे समाहित कर सके।

जीवन के मौलिक भावों से समीक्षा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोडने के लिए आज वास्तव मे समीक्षक को नया दर्शन (Vision) अपनाना पड़ेगा। इन्ही अर्थों मे पाणिनि और अरस्तू, अभिनव गुप्त और क्रोचे दार्शनिक रहे है। किसी ऐसी ही उदार व्यापक भावभूमि मे ही उन समस्त विद्वानो, चिन्तन-धाराओ, पद्धतियो और प्रणालियो का सामजस्य हो सकेगा जो आज इतनी उलझी हुई दीख पड रही है। वही भावभूमि, हमारे नये साहित्य-सृजन और सास्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका बनेगी। उसे प्रस्तुत करने का दायित्व हमारी समीक्षा पर है।

एक ओर हमारे जन जीवन की ये सकटपूर्ण सक्रान्ति की घड़ियाँ हैं, हमारे राष्ट्रीय इतिहास का इतना महत्त्वपूर्ण मोड़ है, उससे प्रेरित सास्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका में समीक्षक का इतना गहन और विराट् दायित्व है और दूसरी ओर हमारी समीक्षा प्रचुर अशों मे अध्ययनशून्य, दायित्वहीन, परम्परा से अनभिज्ञ, दलबन्दियो और पूर्वग्रहो मे उलझी हुई है। समीक्षकों की ओर से अक्सर यह आवाज उठी है—'साहित्य मे गतिरोध', 'साहित्य मे बौद्धिक शून्यता', 'बौनों का साहित्य!' किन्तु इन्ही शब्दावलियो के प्रसग मे कभी हमने अपने समीक्षा-साहित्य की ओर भी ध्यान दिया है? और क्या इसी तैयारी के साथ हम अपने इस विराट् दायित्व को वहन करने जा रहे है?

●

निबन्ध

डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा

भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन का क्रमिक विकास : सिन्धु-सभ्यता से रीति काल तक

मनुष्य की सौन्दर्य-अनुभूति केवल व्यक्तिगत ही नही होती, उसका एक सामूहिक रूप भी है। इतिहास मे जिस काल-विभाग को 'युग' कहा जाता है, उसमे भावना की एकता होती है। उस युग के लोगो का नैतिक दृष्टिकोण उनका धार्मिक विश्वास तथा जीवन के प्रति भाव लगभग समान ही होते हैं, जिसके कारण समाज मे सामजस्य रहता है।

युग-क्रान्ति के साथ जीवन और भावना मे भी क्रान्ति उत्पन्न होती है, तथा आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बदल जाने से समाज की व्यवस्था, उसके नियम और अनुशासन, यहाँ तक कि हमारी भावना, विश्वास और जन-रुचि सभी असगत से प्रतीत होने लगते हैं। यह युग-सन्धि का समय होता है जब एक ओर पश्चिम में अपनी लाल ज्वाल-मालाओं को लिये क्रन्दन, आवेग और पीडा के साथ, एक युग अस्त होता दिखाई देता है, और दूसरी ओर दूर क्षितिज मे, नवीन युग अपनी प्रस्फुटित किरणों का आकर्षण लिये, उत्साह और उल्लास के साथ उदय होता दृष्टि मे आता है। मनुष्य न जाने अब तक कितनी युग-क्रान्तियाँ देख चुका है। इन्ही क्रान्तियो की कहानी उसका इतिहास है।

आदिम युग :

मनुष्य ने अपनी आदिम अवस्था मे किस सौन्दर्य का अनुभव किया, हम इसके विषय मे कल्पना ही कर सकते है। आदिम मनुष्य ने अपने-आपको अनन्तता से घिरा पाया होगा। उसके चारों ओर अछोर वन, उसके सम्मुख क्षितिज से भी उस पार तक फैला हुआ सागर, उसके ऊपर अनन्त अन्तरिक्ष का नीला आवरण। यद्यपि आज भी ये वस्तुएँ हमारे सम्मुख हैं, तथापि हमारा अनुभव नगरों, तालाबों, छोटे-छोटे बागीचो और उपवनो आदि से इतना पूर्ण है कि इसमे 'असीम' की अनुभूति को कोई मुख्य स्थान प्राप्त नही। आदिम मनुष्य का दूसरा अनुभव स्वच्छन्दता का रहा होगा। अनुशासन, नियम और विधान के अनेक बन्धनो मे बँधा हुआ हमारा आज का जीवन इस अनुभव से लगभग अपरिचित-सा है। आकाश मे उड़ता हुआ चालक, और जलयान को समुद्र में खेने वाला नाविक भी एक निश्चित मार्ग और नियम का पालन करता है। वह भी 'स्वच्छन्दता' के अनुभव से अनभिज्ञ रहता है, साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या, जो पद-पद पर मार्ग के अनुशासन का पालन करने के लिए बाध्य होता है। आदिम मनुष्य ने

अपने समय में प्रचण्ड आँधियों के वेग को, स्वच्छन्द-गति नदों को और निर्बाध रूप से विचरने वाले पशुओं को देखा होगा। उसके समय में मार्ग और मर्यादा थे ही नहीं। बन्धन का यह सर्वथा अभाव एक विशेष अनुभूति उत्पन्न करता है, जो (यद्यपि वह आज हमसे दूर है) हमारी सौन्दर्य-अनुभूति के लिए आवश्यक है।

'असीम' और 'स्वच्छन्द' का अनुभव आदिम मनुष्य के जीवन का मुख्य अंग रहा होगा। साथ ही, 'जीवन' का भी स्वयं अनुभव उसने निकटतम होकर किया होगा। सभ्यता और संस्कृति, धर्म और नीति, अर्थ और राजनीति आदि के आवरणों से मनुष्य-जीवन की मूल प्रेरणाएँ आज कुछ तिरोहित और शिथिल-सी हो गई हैं। आदिम अवस्था में प्रतिदिन भीषण झंझा, अग्नि-काण्ड, शिखरों का आस्फालन आदि भयंकर प्राकृतिक घटनाओं का सामना होता होगा। आखेट में जीवन और मृत्यु का निकट से अनुभव होता होगा।

जीवन में 'हर्ष' से भी अधिक प्रेरक-शक्ति 'भय' है। आदिम जीवन में 'भय' का प्रमुख स्थान है। चन्द्र और सूर्य-ग्रहण के अवसरों पर ज्वालामुखी के उद्गारों, भूकम्पों, बवण्डरों, अग्नि-काण्डों और पर्वतों के फटने पर उसका भय कितना तीव्र हुआ होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। सभ्यता के आदि काल में ये प्राकृतिक घटनाएँ प्रायः घटती रहती थीं। इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन में भी नित्य भय का अनुभव करना पड़ता होगा। आदिम मनुष्य ने भय से प्रेरित होकर ही सभ्यता की ओर पग रखा, यह मानना कठिन न होगा। यद्यपि साधारणतया 'भय' उद्वेग उत्पन्न करने वाली भावना है, तथापि आदिम जीवन में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहने के कारण सम्भवतः यही भावना सुख और साहस का भी मूल बन गई होगी। आज भी हमारे सौन्दर्य के अनुभव में, विशेष अवसरों पर, आतंक का पर्याप्त अंश रहता है, जैसे ऊँचे पर्वत-खण्ड, प्रपात, अतल गर्त, जल-प्रवाह आदि भयावह प्राकृतिक दृश्यों को देखने में इनके आकर्षण का मूल इनमें भय उत्पादन करने की शक्ति है। 'भय' का यह आकर्षण आदिम जीवन की एक मूल प्रेरणा थी।

हमने यहाँ आदिम जीवन की व्यापक अनुभूतियों का उल्लेख किया है, ये उस युग की चेतना के मुख्य अंग और आकर्षण थीं। इस चेतना के कोई अवशिष्ट व्यक्त चिह्न तो हमें प्राप्त नहीं, किन्तु कहीं-कहीं गिरि-गुहाओं में गेरू से बने हुए उस समय से सम्बन्ध रखने वाले चित्र अवश्य पाए जाते हैं। जैसे वन्य वाराह को भाले से छेदने के या किसी भयंकर भैंसे द्वारा पीछा किये जाने के दृश्य गेरू की रेखाओं के माध्यम से अंकित हैं। इन आदिम चित्रों में रेखाएँ सरल हैं, किन्तु उनकी गति स्वच्छन्द है, उनमें चित्र-कला के नियमों की अवहेलना है। परन्तु इसी गति की स्वच्छन्दता से जीवन की तरलता और उसकी उद्दण्ड शक्ति प्रस्फुटित हो उठी है। 'भय' की भावना इन चित्रों का प्राण है।

सिन्धु-सभ्यता :

आदिम अवस्था से लेकर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता तक बहुत समय बीता होगा, ऐसा इतिहासकारों का अनुमान है। इसी अन्ध काल में, हमारे देश में पूर्व की ओर से कई जातियों ने प्रवेश किया और यहाँ के मूल निवासियों की सभ्यता में एक नवीन धारा का संगम हुआ। एक नूतन वातावरण का उदय हुआ, जिसका महत्त्व सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से बहुत है, यद्यपि हमारा घटनात्मक इतिहास इस काल के विषय में मौन है।

सौन्दर्य शास्त्र का अनुमान है कि इस काल मे 'शिव' चेतना का आविर्भाव हुआ, जो मोहनजोदड़ो और आर्यों के काल तक व्यापक और पुष्ट होकर हमारी तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति और धार्मिक भावना का अग बन चुकी थी। यह 'शिव' क्या है। वस्तुतः यह शिव तत्त्व हमारी आदिम चेतना का जीवन्त प्रतीक है। हमने कहा कि सभ्यता के उदय से पूर्व जब मनुष्य अपने स्वाभाविक रूप में था, तब उसने 'असीम', 'स्वच्छन्द', 'सरल', और 'भयकर' जीवन का अनुभव किया। यह आदिम अनुभव ही 'शिव चेतना' की मूल भूमि है।

सम्भव है कि पश्चिम की ओर से आई हुई जातियों के सम्पर्क से इसी समय 'शिव-चेतना' मे और भी अधिक विकास हुआ हो। उसके साथ शक्ति, त्रिशूल, वृषभ, डमरू, कपाल-माला, ताण्डव नृत्य, प्रलयकर तृतीय नेत्र आदि वस्तु शिव चेतना को और भी स्पष्ट तथा सजीव बनाने के लिए जोड दी हों। कुछ भी हो, आर्य सभ्यता के उदय से पूर्व, शिव की सदेह उपासना व्यापक हो चुकी होगी। ये शिव हमारे सरल, तरल, असीम, स्वच्छन्द किन्तु भयकर आनन्द के जीवन्त प्रतीक हैं।

वैदिक काल :

वैदिक व्यवस्था में जीवन के प्रति आनन्द और उत्साह की भावना है। परन्तु इसमे दिव्यता और आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। ऋग्वेद-काल के देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि एक ओर तो प्रकृति के दिव्य पदार्थ हैं, किन्तु दूसरी ओर ये आर्य जीवन की ज्वलन्त अनुभूतियाँ हैं। ये उस काल की सौन्दर्य-चेतना के स्फुल्लिंग है। आर्य सस्कृति की विराट् कल्पना अपूर्व थी। विराट् जीवन अथवा विश्व-जीवन में पशु, मनुष्य, वनस्पति, पर्वत, सागर, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र आदि सभी किसी दिव्य शक्ति की प्रेरणा से अपना-अपना काम कर रहे है। वह दिव्य शक्ति, जो चराचर की प्रेरक है और जो विराट् जीवन को सॅभालती है, 'ऋत्' है। हम विराट् को सत्य भी कहते हैं, क्योंकि उसकी सत्ता है। हमारे अनुभव का सारा जगत् 'सत्य' अथवा सत्ता तथा 'ऋत्' अर्थात् उस सत्ता मे व्यवस्था, नियम और विधान से बना हुआ है। ऋत् और सत्य ही विश्व का स्वरूप है, यही हमारे अनुभव का भी स्वरूप है। इसका जन्म 'तप' से होता है। वैदिक साहित्य मे 'तप' शब्द का गम्भीर अर्थ है। तप से उत्पत्ति और सृजन होते हैं। वस्तुतः तप का अर्थ सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्तियो को अन्तर्मुखी बनाना होता है।

विराट् जीवन के लिए ही सूर्य तपता और पवन चलता है। सभी प्राकृतिक कार्य 'ऋत्' शक्ति की प्रेरणा से उसी जीवन के पोषण और वृद्धि के लिए चलते रहते हैं। सारे विश्व मे कोई भी वस्तु अपने लिए नहीं है। प्रत्येक वस्तु उसीके लिए मानो अपने-अस्तित्व का 'समर्पण' कर रही है। विराट् जीवन के लिए यह आत्म-समर्पण 'यज्ञ' है, जिसमे वन, पर्वत, पशु, मनुष्य और देवता सभी आहुति दे रहे है। मनुष्य का जीवन विराट् जीवन का अभिन्न अग है। वह जितना स्वय को इस विराट् जीवन से दूर करता है, उसका जीवन भी उतना ही क्षुद्र और दुःखमय बन जाता है। जितना उसके साथ तादात्म्य और एकता स्थापित करता है, उतना ही वह सुखी, बृहत् और व्यापक हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ ही बृहत् और व्यापक है, मनुष्य का मूल स्वरूप ब्रह्म है। इसी विराट् जीवन के साथ 'यज्ञ' द्वारा तादात्म्य प्राप्त करके वह 'ब्रह्मत्व' का अनुभव करता है।

वैदिक जीवन की व्यापकता में सौन्दर्य और धर्म की भावनाएँ अलग-अलग नही रह सकती थी। किन्तु उस समय धर्म ने सौन्दर्य को गम्भीरता और आध्यात्मिकता प्रदान की; और सौन्दर्य के अनुभव ने धर्म को केवल शुष्क आडम्बर ही न रहने दिया प्रत्युत उसे सरस और हृदय-ग्राह्य बना दिया। वेद को धार्मिक साहित्य अथवा काव्य-साहित्य कहना उचित नही प्रतीत होता, क्योंकि उसमे धर्म की गम्भीरता के साथ-साथ काव्य की सरसता का भी स्वाभाविक सम्मिश्रण है।

रामायण काल :

वैदिक काल से लेकर रामायण काल तक बहुत समय बीत चुका था, क्योंकि अब सामूहिक जीवन का केन्द्र प्रकृति के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप से हटकर मानव-जीवन की राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक समस्याएँ बन गई थी। यदि हम आदिम मनुष्य की अनुभूति को 'प्राकृतिक सौन्दर्य' और वैदिक युग की अनुभूति को 'दिव्य सौन्दर्य' कहे तो हम रामायण काल की अनुभूति को 'मानव-सौन्दर्य' कह सकते हैं। इस समय राजनीतिक परिस्थितियाँ जटिल हो गई है, सत्य और असत्य, प्रतिज्ञा-हानि, कर्त्तव्य-पालन आदि के नैतिक प्रश्न उपस्थित हो गए है।

रामायण मे सघर्ष दो प्रकार का है। पहला राम और रावण का, जो वस्तुतः जीवन के सामजस्य और केवल अनियन्त्रित भोग-भावना का सघर्ष है। रावण उस भोग-इच्छा का प्रतीक है, जो नीति, धर्म, पाप, पुण्य आदि के विधान मे नहीं रहना चाहती। राम में जीवन के विविध अंगो का सामजस्य है। परन्तु दूसरा सघर्ष राम के स्वय व्यक्तित्व मे है। यह सघर्ष भोग और भाग्य का सघर्ष है, जिसका मूल रूप रामायण की क्रौञ्च-कथा मे व्यक्त किया गया है। क्रौञ्च और क्रौञ्ची का वन मे स्वच्छन्द विहार भाग्य को कहाँ भाता है? व्याध ने शर-प्रहार से उनके सुख का अन्त कर दिया। ऋषि वाल्मीकि ने जब यह देखा तो इस घटना में उन्हे सम्पूर्ण मानव-जीवन का रहस्य मिल गया। उनका कोमल हृदय शोक से छटपटा उठा और उनकी कवि-प्रतिभा जीवन के इस करुण रहस्य के उद्घाटन के लिए उद्बुद्ध हो उठी। उनका शोक श्लोक बनकर व्यक्त हुआ। वस्तुतः सौन्दर्य के अनुभव मे 'शोक' को इतना महत्त्व देना ही वाल्मीकि की देन है।

रामायण के 'मानव-सौन्दर्य' का सार यह शोक है। केवल अनियन्त्रित भोग और आनन्द से सौन्दर्य-चेतना जाग्रत नहीं होती। शोक की पुट के बिना आनन्द का स्तर नीचा रहता है। शोक आनन्द को उदात्त, तीव्र और स्पष्ट बनाता है। मनुष्य जिसे 'सुन्दर' कहता है, उसके भोग मे भाग्य का शर बिंधा हुआ है, उसके सयोग मे वियोग का निरन्तर भय विद्यमान है। रामायण के शोक को कर्त्तव्य, सत्य आदि की नैतिक भावना ने और भी उदात्त बना दिया है। यह शोक रोना-धोना नहीं है। राम अपने जीवन के सम्पूर्ण धैर्य के साथ, अपने नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को न त्यागकर नियति के विधानों का सामना करते हैं। इस सघर्ष से सामजस्य उत्पन्न होता है। सामजस्य के कारण राम की करुणा साधारण न रहकर अद्भुत सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति को उत्पन्न करती है। आनन्द की अनुभूति मे राम का 'उदात्त शोक' उसका तत्त्व है। सौन्दर्य में 'करुणा' को उचित स्थान देना रामायण का महत्त्व है।

महाभारत काल :

महाभारत काल की सौन्दर्य-भावना मे कई धाराएँ बहती हैं, (क) आदिम काल की स्वच्छन्द भोगेच्छा, किन्तु यह जीवन की जटिलता मे इतनी उलझ गई है कि इसका स्पष्ट रूप

कहीं-कहीं ही दृष्टिगत होता है। (ख) नियति एवं मर्यादा तथा देवताओं का प्रसाद और कोप भी मनुष्य की स्वच्छन्द गति का विरोध करते है। (ग) वैदिक काल की विराट् दृष्टि ने भोग और मर्यादा के क्रूर संघर्ष को, रामायण की भाँति करुणा से आप्लावित न करके, वीरता और वैराग्य से मिश्रित कर दिया है। इन तीनों धाराओं के संगम से इस काल का बृहत् सौन्दर्य-प्रवाह बना है। इनकी समष्टि और सामंजस्य कृष्ण के व्यक्तित्व में विद्यमान है।

महाभारत मानसिक जगत् की एक घटना है। यह संघर्ष है, जिसमें एक ओर कौरव-दल के रूप में प्राकृतिक बल, भोग की अनन्त लालसा और ऐश्वर्य का मद है। दूसरी ओर यह सब है, किन्तु साथ ही, नीति, धर्म और मर्यादा का बन्धन है, जिसके कारण पाण्डव सदा भटकते रहे। इस बन्धन को बिना शिथिल किये हुए, आत्मा को वीर बनाने वाला जीवन में विराट् दृष्टिकोण है। महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व कृष्ण ने गीता के उपदेश के रूप में इसी दिव्य दृष्टि के द्वारा अर्जुन को जीवन का विराट् स्वरूप दिखाया। हमारा जीवन काल के अनन्त, अनादि और अगाध स्रोत में एक छोटा-सा प्रवाह है। इसको स्रोत से अलग करने में वह अत्यन्त क्षुद्र हो जाता है। परन्तु अनन्त और सनातन धारा में सहस्रों सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि बहते दिखाई देंगे। अर्जुन जिन वीरों से भयभीत था और अपनी वीरता का उसे जो मद था, वे सब और स्वयं भी, काल की दाढ़ों में उलझे हुए दिखाई पड़े। हमारी मानव-दृष्टि, जो बहुत दूर आगे या पीछे नहीं जाती, विराट् के इस सनातन और भव्य रूप को देखकर भयभीत हो जाती है। यदि हमें अर्जुन की भाँति दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाय तो हमारे व्यक्तिगत सुख और दुःख, जय और पराजय, पुण्य और पाप, स्नेह और द्रोह, हमारा स्वयं जन्म और मृत्यु, यहाँ तक कि सृष्टि और प्रलय सभी अनन्त प्रवाह की क्षुद्र तरंगों की भाँति प्रतीत होने लगें। जीवन में विराट् दृष्टि से मोह दूर हो जाता है, आँखें उज्ज्वल और तेजयुक्त, गति में वीरता और हृदय में एक अद्भुत प्रसाद का आविर्भाव होता है। व्यास ने हृदय के इस गम्भीर अनुभव को 'शान्ति' कहा है। जिस प्रकार रामायण में संघर्ष के अनन्तर सामंजस्य से 'करुणा' अथवा 'उदात्त शोक' की प्रतीति होती है, उसी प्रकार महाभारत में जीवन के जटिल संघर्ष में कृष्ण के व्यक्तित्व में जो सामंजस्य उत्पन्न होता है, उससे 'शान्ति' अथवा 'शान्त रस' की अनुभूति का जन्म होता है।

'शान्त रस' हमारी सौन्दर्य-चेतना का अंश है। यद्यपि कृष्ण ने जिस 'शान्ति' के अनुभव का उपदेश दिया है, वह सन्यासियों की काषाय-ग्रहण से उत्पन्न शान्ति नहीं है, तथापि उसमें सन्यासियों की त्याग भावना, निर्मोह दृष्टि, और मनःप्रसाद विद्यमान है। जीवन की अनन्तता की उत्कट अनुभूति तो सांसारिक जीवन में संघर्षों से घिरे रहकर ही होती है। विराट् जीवन में व्यक्ति का जीवन लघु तरंग, विराट् यज्ञ की एक आहुति अथवा विशाल सत्ता की अनन्त दिशाओं में बिखरी हुई जड़ों, शाखाओं वाले अश्वत्थ वृक्ष का एक छोटा पल्लव है। गीता के अनुसार संघर्ष से सामंजस्य और सामंजस्य से इस 'शान्ति' कहलाने वाले अनुभव का जन्म होता है। सम्पूर्ण महाभारत ग्रन्थ अनेकों कथानकों और प्रसंगों द्वारा इसी 'संघर्ष से सामंजस्य और सामंजस्य से शान्ति' के आविर्भाव की गाथा है।

महाभारतकार ने, अपने युग की नवीन परिस्थिति में, वैदिक काल की विराट् दृष्टि को लाने का प्रयत्न किया था। युद्ध के भयंकर जन-क्रन्दन का शोक ज्यों ही समाप्त होने लगा, सामूहिक जीवन में, नवीन दार्शनिक दृष्टि से, अवश्य ही निर्मलता का आविर्भाव हुआ। निर्मल

और स्वच्छन्द आनन्द की भावना जगी। यज्ञों का प्रचार और विस्तार होने लगा। शक्तिशाली राष्ट्रों की स्थापना हुई, और कला और साहित्य के सृजन के लिए उत्साह और प्रेरणा मिली। प्राचीनतम पुराण, सूत्र-ग्रन्थ, दर्शकों के प्रस्थान ग्रन्थ, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त, आयुर्वेद आदि शास्त्र, इसके अतिरिक्त नाट्य-शास्त्र, काव्य आदि साहित्य का निर्माण हुआ। महाभारत का यह उत्तर काल अत्यन्त उर्वर काल रहा है। इस समय की सामूहिक चेतना मे आदिम काल से लेकर उस समय तक की सारी प्रवृत्तियाँ आकर मिल गई हैं। अतः जीवन व्यापक, सर्वांगीण और सर्वतोमुखी हो गया है। इस समय के शान्त वातावरण मे साहित्य, कला और दर्शन न केवल अकुरित हुए, प्रत्युत वे पुष्ट और विकसित भी हुए।

हमें इस युग के साहित्य, कला और दर्शन-ग्रन्थो के अतिरिक्त मूर्ति तथा भिति-चित्र आदि के रूप में कुछ नही मिलता, इन ग्रन्थो के और फिर ईसा पूर्व चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के कला-अवशेषो के आधार पर इस युग की सौन्दर्य-चेतना के विषय में हम अनुमान कर सकते हैं। भरत का नाट्य-शास्त्र (जिसमें नाटक, नाट्य, नृत्य, सगीत, रस, विभाव, अनुभाव आदि का सांगोपांग वर्णन मिलता है) अवश्य ही कई शताब्दियों की विचार-धारा का समन्वय और समष्टि है। पुराणों में दिव्य लोको की विभूतियो का वर्णन है। नाटको मे भित्ति-चित्र, चित्र-पट आदि का उल्लेख है, अलकार और वस्त्र-भूषा आदि के वर्णन है। दर्शन, साहित्य और निरुक्त तथा व्याकरण शास्त्र में जीवन के आध्यात्मिक आदर्शों और विभूतियो पर गम्भीर विचार किया गया है। इसमे महाभारत के उत्तर काल की सामूहिक और सृजन के लिए उत्सुक चेतना तथा उर्वर प्रतिभा का स्पष्ट पता लगता है।

ईसा-पूर्व चौथी और तीसरी शताब्दी मे सारनाथ के 'सिंह स्तम्भ', साँची, भारहुत तथा अन्य कई स्थानो मे पाये गए यक्ष और यक्षिणियो की मूर्तियाँ आदि उस समय की कला के प्रतिनिधि स्वरूप हमे प्राप्त हुए हैं। ये मौर्यकालीन सौन्दर्य-भावना के प्रस्तर-खण्डो मे अंकित अमर प्रतीक हैं।

बौद्ध काल :

प्रत्येक युग चूडान्त पर पहुँचने से पूर्व ही अपनी विरोधी प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कर देता है। हम यह तो निश्चय पूर्वक नही जानते कि हमारा उपलब्ध दर्शन-साहित्य बौद्ध-धर्म के आविर्भाव से पूर्व या पश्चात् का है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिक चिन्तन का सम्बन्ध जीवन से विच्छिन्न-सा हो चला था, गौतम भी इन्ही दर्शन-केन्द्रो मे शान्ति के लिए गए। किन्तु वहाँ उन्हें दर्शन की गूढता और तर्क की नीरसता ही मिली, जिससे जीवन की समस्याएँ सुलझने के स्थान पर और भी उलझ जाती हैं। गौतम की पहली प्रतिक्रिया इसी शुष्क और निर्णयशून्य दार्शनिक शैली का विरोध थी।

बुद्ध का मूल उपदेश केवल इतना ही था कि ससार दुःखमय है, इस दुःख का कारण अवश्य है, इस दुःख का निर्मूलन होना चाहिए, और इसका निर्मूलन होना सम्भव है। सब दर्शनों की उलझन के स्थान पर सीधा, समझने योग्य यह उपदेश था। बौद्ध-धर्म मे 'सुख' और 'सरसता' के लिए स्थान न था। जीवन वासनाशून्य होना चाहिए। परन्तु यदि जीवन स्वयं ही अमिट वासना है, तो इस 'शून्यता', अनन्त शून्यता की अनुभूति ही साधना का लक्ष्य है।

एक ओर चेतना की वह धारा, जिसका उद्गम महाभारत के उदात्त आदर्शों से हुआ

था, अनेक स्रोतों और प्रवाहों को लेकर बह रही थी। इसमें दर्शन की गम्भीर दृष्टि, वेद की व्यापकता, आदिम काल की स्वच्छन्द आनन्द-भावना, यज्ञों के प्रसार से अनेक दिव्य लोकों और भोगों की कल्पना; नृत्य, सगीत, काव्य के विकास से रस की अनुभूति आदि सभी विद्यमान थे। जीवन की सहस्र धारा जाह्नवी में, दूसरी ओर से बुद्ध की वैराग्यमयी करुणा, शान्ति और शून्यता का सगम हुआ। 'संगम' इसलिए कि वह शून्यता और शान्ति जीवन के प्रवाह में बहुत काल तक अलग न रह सकीं। फलतः इस शून्यता मे सरस भावों का आविर्भाव होने लगा। बुद्ध के जीवन के विषय मे सरस कल्पनाएँ की गई। उनके जीवन के चित्रण के लिए रग और तूलिका, शिला-खण्ड और टाँकी का प्रयोग किया गया। उस विरागी के वैराग्यमय जीवन को व्यक्त करने के लिए पहाड़ो, गिरि-गुहाओं को खोदकर अनन्त धन और अथक परिश्रम द्वारा मन्दिरों और भित्ति-चित्रों का आयोजन किया गया। वस्तुतः बुद्ध ने जीवन के लिए शून्यता रूप नवीन आदर्श उपस्थित किया, किन्तु उसकी तरल धारा ने उस शून्यता को रस, आनन्द और सौन्दर्य के वैभव से भर दिया।

जीवन की इस बहुमुखी धारा की अभिव्यक्ति 'मथुरा की कला' : ईसा की पहली शताब्दी में हुई है। अजन्ता की चित्रकारी का प्रारम्भ इसी युग की सौन्दर्य-चेतना को रग और रूप देने के लिए हुआ। जीवन के बहुमुखी विकास और वैभव से अवश्य ही आनन्द की प्रखर अनुभूति उत्पन्न हुई होगी, उल्लास और उत्साह उमडा होगा, क्योंकि इनके बिना पहाड़ो को खोदकर स्तम्भों, प्रकोष्ठो और मन्दिरो का निर्माण करना, रेखाओ और रगो से ओज-ऐश्वर्य, अनन्त करुणा, वैराग्य, आनन्द आदि को व्यक्त करना, पत्थर की बुद्ध-मूर्तियों मे टाँकी के बल से आध्यात्मिक चेतना और उदात्त जीवन को जाग्रत कर देना सम्भव नहीं था। आश्चर्य नही कि यह चेतना यही तक सीमित न रह सकी, और ब्रह्मा, स्याम, कम्बोडिया, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन आदि देशों में स्तूपों, मन्दिरों और मूर्तियो मे अभिव्यक्त हुई।

गुप्त काल :

बौद्ध धर्म ने जिस नवीन चेतना को जन्म दिया, वह हमारे सामूहिक जीवन की पुरातन और गम्भीर धारा मे घुल-मिल गई। उसका तिरोभाव अथवा पतन नहीं हुआ, किन्तु रूपान्तरण अथवा सश्लेषण हुआ। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म की शून्यता मे निराकार ब्रह्म की स्थापना की गई, निर्वाण का स्थान मोक्ष ने लिया, वैराग्य और सन्यास का स्थान वैसा ही रहा। इस प्रकार एक ओर शकराचार्य के अद्वैतवाद का बीजारोपण हुआ। दूसरी ओर इसी शून्यता मे सरसता का सचार हुआ, बुद्ध के जातक-ग्रन्थों के साथ ही अवतारवाद ने जन्म लिया, दिव्य लोकों और भोगों की कल्पना प्रारम्भ हुई, पुराणों की रचना से मनोरम भावो के प्रतीक विष्णु, राम, कृष्ण, आदि की लीलाओं का प्रचार हुआ। देश के वैभव-सम्पन्न और शान्त वातावरण में कला, साहित्य, काव्य, दर्शन और शास्त्रों का सृजन हुआ। यह भारतवर्ष में गुप्त काल था। यह स्वर्ण युग था, क्योंकि देश के आनन्द, चेतना और उर्वर प्रतिभा ने अपने चरम विकास पर पहुँचकर अजन्ता, सारनाथ, मथुरा, यहाँ तक कि देशान्तरो मे मध्य एशिया से लेकर लका तक और फ़ारस से लेकर चीन तक, मूर्तियो और चित्रों की सृष्टि की। गुप्त काल की मूर्तियों और चित्रो में मथुरा-कला की अपेक्षा यह विशेषता थी कि रेखा की स्वच्छन्द गति, ओज और उल्लास का स्थान संयम, रूप की कोमल सरसता और गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति ने ले लिया था। शक्ति से अधिक

भावना के परिपाक का सम्मान था। इस काल की बुद्ध-मूर्तियों और गुहा-चित्रों में शान्ति, ध्यान-मुद्रा, करुणा, आत्म विजय का आनन्द, वैराग्य आदि आध्यात्मिक वैभव का परिपक्व रूप में अंकन हुआ है। इसके सुन्दर उदाहरण अजन्ता के चित्रों में अवलोकितेश्वर पद्मपाणि का चित्र और सारनाथ की बुद्ध-मूर्तियाँ हैं।

अपने चूडान्त विकास को पहुँचकर गुप्त युग की पल्लवित और पुष्पित आनन्द-चेतना शाखाओं में विभक्त होने लगी। कई धाराओं के मिश्रण से यह पुष्ट हुई थी, इसी पुष्टि के फल-स्वरूप इसका भिन्न-भिन्न पहलुओं में विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। धार्मिक भावना और आनन्द-भावना में अन्तर उत्पन्न हुआ, जिससे एक ओर मन्दिरों और मूर्तियों, अवतार और जातक के कथानकों का अंकन हुआ, और दूसरी ओर केवल सौन्दर्य के आस्वादन के लिए, सुन्दरी और उनकी लीला तथा विलासों का ललित कला के रूप में सृजन हुआ। यद्यपि धार्मिक कला और ललित कला का यह भेद मौर्य काल में ही प्रारम्भ हो चुका था तथापि ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी में यह स्पष्ट हो गया। इन दोनों धाराओं का विकास भिन्न-भिन्न मार्गों में हुआ। धार्मिक कला में मन्दिरों, मूर्तियों का निर्माण और चित्रण प्रधान था। भाँति-भाँति के देवताओं, अवतारों, दिव्य पुरुषों के मान और माप, उनकी मुद्रा और ध्यान-मन्त्र, देवताओं के वाहन, उनकी पत्नियों और विभूतियों इत्यादि का आविष्कार किया गया। इन विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। मध्य काल के उदय होते-होते वराह भगवान्, सूर्य, नन्दीश्वर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की अनगिनत मूर्तियों से सारा देश परिपूर्ण हो गया। वैष्णव, शैव और शाक्त शाखाएँ भी कला के क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं, जिसके फलस्वरूप उत्तर में विष्णु और वैष्णव धर्म की मूर्तियाँ और मन्दिर बने, दक्षिण में शिव-मूर्तियों और शैव-मन्दिरों का निर्माण हुआ, पूर्व के प्रान्तों में शाक्त मन्दिरों और मूर्तियों का सृजन हुआ। मान-ग्रन्थ लिखे गए। एलोरा, एलीफेण्टा के मन्दिर, नटराज की धातु-मूर्तियों, जगन्नाथ, द्वारिका, सोमनाथ आदि का आविर्भाव इसी धार्मिक कला के विकास के सम्बन्ध में हुआ।

ललित कला भी धार्मिक कला से पीछे न रही। नायक और नायिकाओं के अनगिन भेद हुए, उनके लीला-विलासों, पक्षियों और पशुओं के साथ क्रीडा, स्नान, विहार, प्रेम-पत्र आदि लिखना, और इसी प्रकार जीवन के सभी आनन्दपूर्ण अवसरों का चित्रण और अंकन हुआ। भुवनेश्वर, खजुराहो आदि की कला ललित कला के विकास के नमूने हैं। कला का शास्त्रीय रूप भी स्पष्ट होने लगा तथा अनेक शिल्प और मुद्रा-ग्रन्थों की रचना हुई।

आठवीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार 'ध्वनि' है। वस्तुतः सौन्दर्य-आस्वादन में रस का स्थान तो है ही, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति इस कौशल के साथ होनी चाहिए कि हमारे मन और बुद्धि में आनन्दमयी क्रिया उत्पन्न हो। वह पिहित (ढका हुआ) भी हो, किन्तु घटा बजाने के पश्चात् जिस प्रकार वह देर तक अनुरणन और स्पन्दन करता है, उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी रस की अनुभूति से देर तक अनुरणन करता रहे। रसानुभूति में आनन्द को उत्पन्न करने वाला तत्त्व 'चमत्कार' कहलाया, और रसाभिव्यक्ति का यह प्रकार 'ध्वनि' माना गया।

ध्वनि के आविष्कार के अनन्तर विचार दो शाखाओं में विभक्त हो गया। एक ओर रस-प्रधान और दूसरी ओर ध्वनि-प्रधान शास्त्रों का निर्माण हुआ। इसका प्रभाव कला पर पड़ा। रस-प्रधान कला में भाँति-भाँति से रसों का साक्षात्कार कराने का प्रयत्न किया गया। इनमें शृङ्गार

रस को प्रधानता मिली, और शृङ्गार के प्रतीक 'राधा-कृष्ण' का कला में जन्म हुआ। 'शृङ्गार-तत्त्व' की गवेषणा की गई और काम-तत्त्व के साथ इसकी एकात्मकता स्वीकार हुई। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कला को जन्म देने वाली प्रतिभा और प्रेरणा निर्बल हुई तब इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ ऐसे साहित्य, चित्र और मूर्तियो का निर्माण हुआ जिनमें शृङ्गार के स्थान पर कुरुचि और वासना की गन्ध आती है। उधर, ध्वनि-प्रधान विचार-धारा मे रसानुभूति के प्रकार को समझने के लिए 'वक्रोक्ति', 'काव्यानुमिति' आदि का आविष्कार हुआ। कला में इसका प्रभाव मूर्तियो, चित्रों और मन्दिरों के निर्माण मे गम्भीरता लाने के लिए हुआ। प्रत्येक रूप, रग और रेखा के स्पष्ट, साक्षात् अर्थ को छोडकर उनके ध्वन्यात्मक अथवा ध्वनित अर्थों का पता लगाया गया। फलतः काव्य और कला में गम्भीरता के स्थान पर गूढता और अस्पष्टता आ गई। तन्त्र-शास्त्रो का भी इसी समय प्रचार हुआ। चित्रो की भगिमा और मुद्राओ का तान्त्रिक अर्थ लगाया गया। इस प्रकार बारहवी शताब्दी के साहित्य और कला-रचनाओ मे प्रसाद गुण नही है। वे क्लिष्ट और दुरूह कल्पनाओ से ढक-सी गई है।

विदेशी प्रभाव :

मध्यकालीन जीवन को समझने के लिए हमे एक नवीन प्रभाव का अध्ययन करना है, जो पहले यूनान और फिर इस्लाम के सम्पर्क से भारतवर्ष को मिला। यह यूनानी प्रभाव भारतवर्ष में सिकन्दर के साथ आया, और एक विशेष क्षेत्र मे इसने कला को जन्म दिया। जिसे हम गान्धार-कला कहते हैं। किन्तु देश की अपनी परम्परा इतनी सजीव थी कि यह उसे आच्छादित या ग्रस्त न कर सका। कुछ समय बाद इसी यूनानी प्रभाव का मुसलमानी सस्करण हुआ, और गौरी तथा गजनवी के आक्रमणो के साथ यह देश मे आया। इस समय परिस्थिति भिन्न थी, देश की मूल चेतना निर्बल और सृजन की शक्ति शिथिल हो चुकी थी, कारण सम्भवत. राजनीतिक रहे हो, किन्तु इस अवस्था मे नवीन प्रभाव यहाँ आया और जम गया। देश की सामूहिक चेतना मे इसकी धारा मिल गई, किन्तु कुछ कारणो से, जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे, यह हमारे जीवन की मूल भावना के साथ एकात्मकता न पा सकी। इसलिए हमने इस प्रभाव को विदेशी कहा है।

प्राचीन यूनानी सभ्यता और सस्कृति दार्शनिको, गणितज्ञो और साहित्यिको की सभ्यता और सस्कृति है। इसमे प्लेटो के आदर्शवाद, पाइथोगोरस के गणित और होमर की साहित्य कला की त्रिवेणी है। गणित और विज्ञान के अध्ययन ने यूनान देश के जीवन मे नियम और अनुशासनप्रियता को उत्पन्न किया, गणित मे कोमल, करुण आदि भावनाओ के लिए स्थान नहीं। वहाँ नियम का बन्धन और अनुशासन की कठोरता रहती है। गणितज्ञ का आनन्द, यदि हम इसे आनन्द कहे, आधारभूत कल्पनाओ से चलकर प्रत्येक पद पर नियमानुसार, शुद्ध निष्कर्ष तक पहुँच जाना है। नियम में जडता, स्थिरता और आदर्श का अनुभव होता है। यूनान में ज्यामिति के अध्ययन से वृत्त, रेखा और इनसे बनी हुई अनेक ज्यामितिक आकृतियो का आविष्कार हुआ। गणितज्ञ ने इन आकृतियो मे, स्त्री-पुरुषो की जीवित आकृतियो मे नहीं, एक अपूर्व सौन्दर्य का अनुभव किया।

यद्यपि भारतवर्ष मे भारतीय मूल चेतना के उदय से यूनानी प्रभाव समाप्त हो गया, फारस आदि मध्य-पूर्व के देशो मे यूनानी साम्राज्य के साथ-साथ यह प्रभाव भी जीवित रहा। इस्लाम के आविर्भाव ने उसमे 'एकता' और 'समानता' की भावना को और जोड दिया। धार्मिक मतान्धता

तथा अन्य कारणों से अरबी धर्म के साथ कला का विकास तो नहीं हो सका, किन्तु इस्लाम की इन मूल धारणाओं का समस्त प्रभाव जब फारस की सरस भूमि पर पड़ा और यूनानी प्रभाव से इसका सम्मिश्रण हुआ तो एक नवीन सौन्दर्य के आदर्श का जन्म हुआ। यह सौन्दर्य रेखा, वृत्त, ज्यामितिक आकृतियों का सौन्दर्य था। इनको मिलाकर 'एकता' और 'समानता' की भावना उत्पन्न करने से एक 'सुन्दर' आकृति का उदय होता है। भाँति-भाँति के बकों और रेखाओं के संयोजन से (जिसमें विविधता के साथ समानता, 'अनेक' के साथ 'एक' का सामंजस्य विद्यमान हो) फारस की कला का जन्म हुआ। अरब देशों ने जिस विशालता और स्थिर जीवन का अनुभव किया था, जिसके फलस्वरूप मिस्र के पिरामिडों का निर्माण हुआ। यदि हम इसमें वह प्रवृत्ति और जोड़ दें, तो पूर्णरूपेण 'मुसलमानी कला' का आदर्श हमें मिल जायगा। पत्थरों के विशाल स्मारक और मस्जिदें, गोल गुम्बदें और ऊँची मीनारें, जिनमें पत्थर की कटी जालियाँ, पच्चीकारी, मखमली कोमल फर्श, बाग और फव्वारे, किन्तु ये सब मिलकर 'एकता' के सूत्र में ग्रथित, यह मुसलमानी कला की रूप-रेखा है, जिसका प्रभाव, मुसलमानी शक्ति के साथ, इस देश में आया और यहाँ आकर और भी समृद्ध और विकसित हो गया।

मुगल काल

भारत में मध्य युग का प्रथम प्रहर आरम्भ हुआ। यह आतंक निराशा, पराजय और संघर्ष का समय था। राजपूत राजाओं की विलासप्रियता में पड़कर सौन्दर्य-चेतना और उससे उत्पन्न होने वाली कला भी विलासिनी हो गई थी। ऐसे समय में जब धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन पर मुसलमानी आक्रमण हुआ तो राष्ट्र का ऐतिहासिक प्रवाह गम्भीर होकर अन्तस्तलों पर बहने लगा। सारा वायु-मण्डल रण-नाद से गूँज उठा, तूलिका के स्थान पर तलवार सँभाली गई, नृत्य समाप्त हुआ।

विजेता और विजित के संघर्ष से सौन्दर्य के स्थान पर शौर्य तथा कोमलता के स्थान पर दृढ़ता का आदर हुआ। मध्य युग के प्रारम्भ में जहाँ एक ओर सन्तों की वाणी ने पुराने आदर्शों के पुनर्जागरण से जन-जीवन को सुरक्षित रखा वहाँ दूसरी ओर दृढ दुर्गों के निर्माण हुए। सारा राजस्थान और मध्यभारत इन्हीं दुर्गों से परिपूर्ण है। ये दुर्ग, जो पहाड़ों को काटकर भयंकर घाटियों, वन-प्रदेशों, झीलों आदि के मध्य में बनाये गए हैं, उस समय की वीर-भावना के चिह्न हैं। इनमें विशालकाय फाटक, जिनमें चमचमाती लोहे की कीलें गड़ी हैं, भयंकर तोपें और हथियार, लोहे के कवच और शिरस्त्राण आदि हैं, जो उस समय की विकट भावना की सूचना देते हैं। इस काल में न मन्दिर बन सके, न मूर्तियों का निर्माण हुआ और न चित्रों का अंकन ही हो सका।

परन्तु समय बीतने पर सम्पर्क से एक-दूसरे के प्रति स्नेह और आदर उत्पन्न हुआ। हिन्दू-संस्कृति की सामंजस्य उत्पन्न करने की शक्ति फिर से जगी। भाषा, भूषा और भाव के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ। यद्यपि हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ अपने-अपने अस्तित्व को बिलकुल भुलाकर एक न हो सकीं, तथापि साथ रहने की आवश्यकता ने दोनों में रूपान्तर अवश्य कर दिया। इस समय हम अपने सामूहिक जीवन में तीन स्पष्ट धाराओं को देख पाते हैं, जिनका नीचे उल्लेख है।

(क) इसे हम जीवन की 'राजसी' धारा कहेंगे। दिल्ली के सम्राट्, विशेषतः मुगल-सम्राट् और उनको आदर्श मानने वाले राजा और नवाब वैभव और विलासिता, शक्ति और ऐश्वर्य

तथा आतंक के मानो जीवित प्रतीक थे। इस युग के समस्त भौतिक साधन जीवन की इसी राजसी धारा को सँभालने और पुष्ट बनाने में लगे हुए थे। जिसे हम जीवन का ऊपरी स्तर कहते हैं, उसमें आध्यात्मिक गम्भीरता, कवि की वेदना, दार्शनिक की दृष्टि अथवा धर्म की सहृदयता और सरसता का कहीं नाम न था।

इस युग के भवनों, चित्रों और दुर्गों में जाने से इनका 'राजसी प्रभाव' हमें आतंकित-सा करता प्रतीत होता है। अजन्ता के चित्रों अथवा एलोरा आदि के मन्दिरों में हमें दिव्य आनन्द और निर्भय जीवन का अनुभव होता है, किन्तु इस काल की सैकड़ों की संख्या में बनी मस्जिदों में वैभव, शक्ति, राजसी आतंक और विलासिता की भावना उठती है। सिकन्दरा, फतहपुर सीकरी, आगरा, दिल्ली और लखनऊ में जहाँ भी इस भावना की अभिव्यक्ति के चिह्न अवशिष्ट हैं, स्मारक, समाधि अथवा महल, अपनी मूल्यवान् पत्थरों की निर्मित काया से, वर्षों के अथक परिश्रम और अनन्त धन से की गई पच्चीकारी और मीनाकारी से दर्शक के ऊपर अपने आतंक और शान का सिक्का बैठाते हैं। यहाँ यह स्मरण रहे कि हमारी सौन्दर्य की अनुभूति में आतंक और शान का निश्चित स्थान है। इससे हमें 'आनन्द' मिलता है। क्यों? यह एक अलग प्रश्न है। यहाँ इतना पर्याप्त है कि भावना की दृष्टि से इस युग की कृतियों की सुन्दरता का रहस्य इनमें आतंक और शान की भावना को उत्पन्न करने की शक्ति है।

ताजमहल इसी राजसी धारा में मुगल-शक्ति की प्रखर आलोक-रश्मियों से खिला हुआ पूर्ण पद्म है। ताजमहल में भारत का वैभव, फारसी कला की कोमलता, इस्लाम की 'एकता' और 'समानता' की भावना तथा शक्तिशाली मुगल-सम्राट् के उत्कट दाम्पत्य-प्रेम का विलास है। यह सम्भव ही नहीं, सत्य है कि बहुत से मनुष्य शाहजहाँ की भाँति ही अपनी पत्नी से प्रेम करते हैं, तो भी संसार में ताजमहल केवल एक ही बन सका है। इसका उत्तर केवल इतिहास ही दे सकता है। वह उत्तर यह है, इसके निर्माण के लिए भारत की खानें और मणियाँ चाहिएँ, अनन्त धन और श्रम चाहिए, यमुना का नील किनारा और सदा बहार वनस्पति चाहिए, और चाहिए यूनान की गणित और अनुशासन-प्रधान कला, इस्लाम धर्म का उदय, फारस में यूनानी कला का कोमल परिकल्पनाओं से पूर्ण विकास, मिस्र और भारत के पिरामिड, स्तूपों और मन्दिरों के शिखरों, गोलाइयों और गुम्बदों के विकास का इतिहास। ये सब मिलकर शाहजहाँ के प्रेम और मुमताज महल के सौन्दर्य के प्रतीक 'ताजमहल' की सृष्टि करने में समर्थ हो सकते हैं। यह 'राजसी भावना', जिससे ताजमहल का जन्म हुआ, हमारे देश में अंग्रेजी युग के प्रारम्भ तक, क्षीण ही दशा में सही, जीवित रही।

(ख) राजसी स्तर के नीचे जीवन की एक और धारा बहती थी, जिसके प्रतिनिधि यहाँ के छोटे सामन्त और सरदार थे। मनोरंजन और ठाठ-बाट से जीवन बिताना इनका उद्देश्य था। काव्य और कला अपनी पूरी शक्ति से इस उद्देश्य की सिद्धि में लग गए। बिहारी और देव इसी युग-चेतना के प्रतिनिधि हैं। चित्र-कला में अजन्ता की आध्यात्मिक भावना नहीं है, उनमें केवल चित्रण प्रधान है, जिनमें राधा और कृष्ण के विलासों, राज-प्रासाद की क्रीडाओं, ऋतुओं तथा उद्यान-विहारों का अंकन हुआ है। मुगल-दरबार में भी चित्र-कला का विकास हुआ था। अधिकतर इसमें दरबार की शान-शौकत, सेनाओं की सजावट आदि के चित्र हैं। अकबर ने महाभारत और रामायण के प्रसंगों का भी चित्रण कराया था। इस काल के सुन्दरतम चित्र

'रागमाला' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमे 'ध्वनि' को 'रूप' देने का प्रशसनीय प्रयत्न हुआ है, इसी समय हिमाचल के प्रान्तों में भी कला का विकास इसी उद्देश्य के लिए हुआ है। राजस्थानी और पहाडी कलाओ में धनिकों के मनोरजन की प्रचुर सामग्री है। इनमे सरसता, कोमलता और कान्त कमनीयता की गहरी पुट है।

सगीत मे सरसता और कोमलता की प्रधानता के कारण इसका चरम विकास इसी काल में दरबारो के सरक्षण में हुआ, मुसलमानी युग के प्रारम्भ मे होते होते फारसी और अरबी गायन-पद्धति के सम्मिश्रण से एक नवीन भारतीय सगीत-पद्धति का प्रारम्भ हुआ, जिसका पुनरुद्धार हमारे समय में हुआ है। ध्रुपद, ख्याल का आविष्कार इसी समय मे हुआ था। यह सगीत के शुद्ध रूप का विकास था, जिसमें स्वरो का वैभव तानसेन आदि गायकों के द्वारा प्रकट हुआ। दक्षिण मे यद्यपि विकास का क्रम यही रहा, तथापि भारत मे राजनीतिक समृद्धि के साथ-साथ सगीत के साम्राज्य का विस्तार और विकास हुआ। जीवन की यह रजना और विकास-प्रधान भावना अब तक भी किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि हमे इस रजना-प्रधान कला मे वास्तविक सौन्दर्य नदिखाई पड़े।

(ग) जीवन की तीसरी धारा वह है जिसका सम्बन्ध न तो सम्राटो के आतक और अनुभाव से था, और न राजाओं के मनोरजन से। इसका सम्बन्ध जन-जीवन से था, लोकाराधन ही इसका एक-मात्र उद्देश्य था। यद्यपि इसमे प्राजल और दरबारी भाषा का अभाव था, तथापि इसमें भारत की मूल भावना का गम्भीर प्रवाह था। इसमे वैदिक जीवन की दिव्यता और गम्भीरता थी, रामायण काल की आदर्शवादिता और मार्मिकता, महाभारत की दार्शनिक दृष्टि, बुद्ध की वेदना, जैन-धर्म की निस्पृहता, राधा-कृष्ण के प्रेम की विह्वलता थी। यह युग-चेतना सूर, तुलसी और मीरा के पदो मे आज भी पुलकित हो रही है। कबीर की साखी इसकी साक्षी देती है, रसखान की रसमयता इसीकी उपज है। इसके पास राजसी साधन थे, इसीलिए चित्र और वास्तु-कला द्वारा इसकी अभिव्यक्ति न हो सकी। काव्य ही इसका एक-मात्र साधन रहा। आज भी हमारे देश की मूल धारा वही है।

अब हम अपने देश के आध्यात्मिक इतिहास मे उस स्थान पर पहुँच गए है, जहाँ से वर्तमान युग का प्रारम्भ होता है। हमने देखा है कि हमारे सामूहिक जीवन की जाह्नवी मे अनेको दिशाओं से अनेक धाराएँ आ-आकर मिल गई है। 'हमारी चेतना' मे आदिम मनुष्य की स्वच्छन्द आनन्द की भावना से लेकर युगो के इतिहास के अनन्तर मुगलकालीन वैभव और विलास की भावना सभी विद्यमान हैं। वर्तमान युग की समष्टि-चेतना के पीछे युगो का इतिहास है। अपने युग के आध्यात्मिक जीवन को समझने के लिए यह इतिहास आवश्यक है।

अपने इस उत्तराधिकार की विशेषताओं को पूर्णतया ध्यान मे रखकर ही हम अपनी सौन्दर्य-चेतना को समझ सकते हैं, अपने कला-जीवन को हृदयगम कर सकते है और अपने अनागत का निर्माण कर सकते हैं। हम अपने इतिहास का विरोध नही कर सकते, उसका निषेध नही कर सकते और न उसके स्थान पर किसी दूसरी जाति के इतिहास को अपने ऊपर आरोपित कर सकते हैं। अपने अतीत का आकलन आवश्यक है। भविष्य अतीत के गर्भ में पलता है। यही इतिहास का रहस्य है।

सी० जे० युङ्ग

साहित्य और मनोविज्ञान[1]

यह तो पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि साहित्य के अध्ययन में मनोविज्ञान का उपयोग किया जा सकता है, क्योकि मानस-प्रक्रियाओं का अनुशीलन ही मनोविज्ञान का विषय है और मानव का मानस समग्र कला और विज्ञान का मूल है। मानस-शास्त्र के अध्ययन से हम एक ओर किसी कला-कृति की सर्जना पर तथा दूसरी ओर उन तथ्यों पर प्रकाश पाने की अपेक्षा कर सकते हैं जिनसे व्यक्ति कला का सर्जक बनता है। इस प्रकार मानस-शास्त्री के सम्मुख दो विशिष्ट और भिन्न समस्याएँ उपस्थित होती है, जिनका समाधान वह मूलत. दो भिन्न रीतियो से करता है।

किसी कला-कृति का अध्ययन करते समय हमारे सामने एक ऐसी वस्तु होती है जिसकी उत्पत्ति अत्यन्त जटिल मानसिक क्रियाओं से हुई है, किन्तु जो ऊपर से ज्ञानतः और इच्छा से उत्पन्न लगती है। और कलाकार का अध्ययन करने मे तो हमे मानस-यन्त्र को ही समझना है। इनमे से प्रथम का अध्ययन करने के लिए हमे एक निश्चित और मूर्त कला-कृति का मनौवैज्ञानिक विश्लेषण करना चाहिए और दूसरे के लिए एक जीवन्त और सर्जन मे समर्थ मानव का एक अद्वितीय व्यक्ति के रूप मे विश्लेषण करना आवश्यक है। यद्यपि यह दानो प्रयास सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित हैं किन्तु उनमे से कोई एक ऐमी व्याख्याएँ नही प्रस्तुत कर सकता है जो दूसरे को समझने में उपयुक्त हो। इसमें कोई सन्देह नही कि कला-कृति से कलाकार के विषय मे और कलाकार से कला-कृति के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है। परन्तु यह अनुमान कभी निश्चयात्मक नही हो सकते, अधिक-से-अधिक वे सभाव्य सत्य या अटकल-मात्र हो सकते है।

अभी तक मानस-शास्त्र का जितना विकास हुआ है उससे हम अन्य विज्ञानों की तरह अतियथार्थता के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने मे असमर्थ है। केवल कुछ मानसेन्द्रिय मूल प्रवृत्तियो और उत्क्षेपो (रिफ्लेक्सेज) मे ही हम हेतुहेतुमद्भाव की स्थापना कर सकते हैं। किन्तु उस रेखा से, जहाँ से मानसी स्तर का जीवन आरम्भ होता है, मानस-शास्त्री को मानसिक व्यापारों के यथार्थ के न्यूनाधिक निकट वर्णनों और इस अतीव जटिल मन के तानों-बानो के सुस्पष्ट वर्णनो से सन्तुष्ट रहना पडता है। ऐसा करने मे उसे किसी एक मानसिक प्रकिया को ही अपरिहार्य मानने की भूल से बचना होगा। यदि अभी तक मनोविज्ञान की यह स्थिति न बनी रहती और यदि कला-कृति एव कलात्मक सृष्टि की प्रकिया मे कारण-सम्बन्ध स्थापित कर सकने

१. "आधुनिक युग के विभिन्न वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, तथा चिन्तकों ने साहित्य के सम्बन्ध में जो मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं उन्हें बिना किसी समीक्षात्मक टिप्पणी के ज्यों का त्यों हम क्रमश. हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। सर्वप्रथम हम फ्रायड के प्रख्यात सहयोगी और मौलिक मनस्तत्ववेत्ता युङ्ग के विचारों को दो खण्डों में प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रथम खण्ड मे कवि के कृतित्व और द्वितीय में व्यक्तित्व पर विचार किया गया है।"

में वह सक्षम होता तो कला का अध्ययन भी उसकी एक शाखा-मात्र बनकर रह गया होता। ऐसी स्थिति होने पर भी इन अत्यन्त जटिल मानस-व्यापारों में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने का दावा मनोवैज्ञानिक को छोडना नही चाहिए। ऐसा न करने से मानस-शास्त्र को जीवित रहने के अधिकार से ही वंचित करना होगा। फिर भी वह अपने इस दावे को पूर्णतया कभी भी सिद्ध नहीं कर पायगा, क्योंकि जीवन का सर्जनात्मक पहलू तर्क और युक्ति की पकड़ में आने के सारे प्रयास निष्फल कर देता है। किसी भी आघात (स्टिमुलस) की प्रतिक्रिया कार्य कारण भाव से समझी जा सकती है, किन्तु सर्जनात्मक प्रक्रिया, जो केवल प्रतिक्रिया से मूलत. भिन्न है, मानव-बुद्धि की पकड मे शायद कभी भी नही आ सकेगी। उसके आविर्भाव का केवल वर्णन किया जा सकता है, उसकी धूमिल अनुभूति की जा सकती है, किन्तु पूर्ण रूप से उसे समझा नही जा सकता। मनोविज्ञान और कला के अध्ययन को सदा पारस्परिक सहायता अपेक्षित रहेगी, उसमे से कोई भी दूसरे को अमान्य नही कर सकता। मानस-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि मानसिक वृत्त अनुमेय हैं। कला की समीक्षा का एक सिद्धान्त है कि प्रत्येक मानस-रचना स्वय अपने मे कुछ है और स्वय अपने निमित्त है, प्रश्न चाहे कृति का हो, चाहे कृती का। अपनी सापेक्षिकता के बावजूद दोनो सिद्धान्त मान्य है।[1]

(१) कला-कृति

किसी भी साहित्यिक-कृति की समीक्षा के प्रति मानस-शास्त्री और साहित्य-समालोचक के दृष्टिकोण मे एक मौलिक अतर होता है। जो बात एक के लिए अन्यतम महत्त्व की है वह दूसरे के लिए नितान्त असगत हो सकती है। अत्यन्त सदेहास्पद श्रेणी की कुछ साहित्यिक कृतियाँ मानस शास्त्री के लिए बड़े महत्त्व की हो जाती है। उदाहरण के लिए, तथाकथित 'मनोवैज्ञानिक उपन्यास' मानस-शास्त्री के उतने काम का नही होता जितना साहित्य-प्रेमी प्राय. समझते हैं। ऐसा उपन्यास अपनी व्याख्या स्वय करता है। मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का उसने अपना कर्तव्य सम्पन्न कर डाला और अब मानस-शास्त्री अधिक-से-अधिक या तो उस व्याख्या की आलोचना कर सकता है या उसके विषय मे कुछ अधिक कह सकता है। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न—अमुक लेखक ने अमुक उपन्यास क्यो लिखा?—का कोई समाधान नही होता। इस समस्या को मैं अपने निबन्ध के द्वितीय अश मे विचार करने के लिए छोड़े दे रहा हूँ।

मानस-शास्त्री की दृष्टि से सबसे अधिक काम के उपन्यास वे है जिनमे लेखक अपने पात्रो के मन का विश्लेषण नही देता और इस कारण उनमे व्याख्या और विश्लेषण की गुन्जाइश रह जाती है। इस श्रेणी के उत्तम उदाहरण है बिन्वा की कृतियाँ तथा राइडर हैगार्ड और कोननडाएल के जासूसी उपन्यास। मेलवील का माबीडिक भी, जिसे मै अमरीका का महानतम उपन्यास मानता हूँ, इसी कोटि मे आता है। प्रत्यक्षत. मनोवैज्ञानिक विवरणों से रहित रोचक विवरण मानस-शास्त्री के लिए अधिकतम महत्त्व के होते हैं। ऐसी कथाएँ कुछ अस्फुट निर्विवाद मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर आधारित होती है और जिस मात्रा मे लेखक उनसे अबोध रहता है

१. इस भूमिका के उपरान्त युङ्ग ने कला-कृति और कलाकार (अथवा कवि) का अध्ययन अपने निबन्ध के दो अंशों में अलग-अलग किया है। 'आलोचना' के इस अंक में हम कला कृति वाला अंश दे रहे हैं। युङ्ग ने अपने निबन्ध मे साहित्य और कला को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक-दूसरे का पर्याय माना है।

उसी मात्रा में वे अपने को एक जानकार की दृष्टि से शुद्ध तथा अनिश्चित रूप में प्रकट करती हैं। जबकि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में स्वयं लेखक अपने उपादान को अपक्व घटना-क्रम के स्तर से ऊपर उठाकर मनोवैज्ञानिक व्याख्या और प्रकाश के स्तर पर ले जाने के लिए उसे नया रूपाकार देने का प्रयत्न करता है। किन्तु यह एक ऐसी क्रिया है जो रचना के मनोवैज्ञानिक महत्त्व को धुँधला या दृष्टि से ओझल कर डालती है। और इन्हीं उपन्यासों को सामान्य पाठक मनोविज्ञान के रहस्यों से अवगत होने के लिए पढ़ता है, जबकि मानस-शास्त्री को दूसरी कोटि के उपन्यास चुनौती देते हैं, क्योंकि वह ही उन्हे एक गहरे अर्थ से समन्वित कर सकता है।

मैं अभी तक केवल उपन्यासों की ही चर्चा करता रहा हूँ, किन्तु जिस मनोवैज्ञानिक तथ्य के विषय में मैंने ध्यान आकर्षित किया है वह साहित्य के इसी अंग में सीमित नहीं है। उसे हम कवियों की रचनाओं मे भी पाते हैं और जब हम 'फाउस्ट' नाटक के दोनों भागों की तुलना करते हैं तो यही तथ्य हमारे सामने आता है। ग्रेचेन के प्रेम की ट्रैजेडी अपनी व्याख्या स्वयं कर देती है, उसमे मानस-शास्त्री ऐसा कुछ भी नहीं जोड सकता जिसे कवि ने अपने-आप सुन्दरतम शब्दों मे नहीं कह डाला है। परन्तु दूसरे भाग के लिए व्याख्या अपेक्षित है। काल्पनिक उपकरणों की अलौकिक प्रचुरता ने कवि की संघटन-शक्ति को इतना अतिकल्पित किया कि उसमे कुछ भी स्वयं-व्याख्य नहीं रह सका और प्रत्येक पद मे पाठक के लिए व्याख्या की आवश्यकता बढती ही जाती है। 'फाउस्ट' के दोनों भाग मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण की चरम सीमाओं के उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस वर्गीकरण पर बल देने के लिए मैं कलात्मक सर्जन के एक प्रकार को मनोवैज्ञानिक और दूसरे को दर्शन (विज़नरी) कहूँगा। मनोवैज्ञानिक प्रकार मे लेखक मानव-बोध के क्षेत्र से उपलब्ध सामग्री का उपयोग करता है, जैसे, ज़िन्दगी से सीखे पाठ, भावात्मक आघात, प्रणय की अनुभूति, भाग्य के संकट, अर्थात् प्रायः वह सब जिससे मानव का चेतन-जीवन निर्मित होता है तथा विशेषतः उसका भावात्मक जीवन। कवि इस सम्पूर्ण सामग्री का आत्मसात् कर लेता है और उसे निरी साधारणता के स्तर से ऊपर उठाकर काव्यात्मक अनुभूति के उच्चतर स्तर पर ले जाता है और उसकी अभिव्यंजना इस तरह करता है कि उससे पाठक को अधिक स्पष्टता और अधिक गहरी अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि होती है। और यह होता है उसकी चेतना मे पूर्ण रूप से उसे समाहित करने से, जिसे पहले वह टालता रहता था, जिसकी उपेक्षा कर देता था अथवा जिसकी संवेदना उसे एक मन्द पीड़ा की अनुभूति के साथ होकर रह जाती थी। चेतना की अन्तर्भूत वस्तु तथा शाश्वत पुनरावर्ती अपलायनीय विषाद और हर्षमय मानव-जीवन की व्याख्या तथा प्रकाशन ही कवि-कर्म है। और यदि हम मनोवैज्ञानिक से 'फाउस्ट' के ग्रेचेन में अनुरक्त हो जाने अथवा ग्रेचेन के अपनी सन्तान की हत्या करने के लिए विवश हो जाने के कारणों का विवरण न जानना चाहें, कवि मनोवैज्ञानिक के लिए कुछ कहने को छोड़ता ही नहीं। ऐसे ही विषयों से मानवता का भाग्य बना है, करोड़ों बार उनका पुनरावर्तन होता रहता है, और वे ही पुलिस की कचहरी तथा ताजीरात की श्रामक एकरसता के लिए उत्तरदायी हैं। वे किसी दुरूहता में आवृत्त नहीं हैं, वे अपनी सम्पूर्ण व्याख्या अपने-आप कर देते हैं।

साहित्य में अनन्त रचनाएँ इसी प्रकार की हैं: जैसे प्रेम, परिस्थिति, परिवार, अपराध और समाज-सम्बन्धी उपन्यास, उपदेशात्मक काव्य, गीतियों की एक बहुत बड़ी संख्या, दुःखान्त और सुखान्त रूपक आदि। मनोवैज्ञानिक रचना का रूप-विशेष जो भी हो, वह अपनी सामग्री

का चयन मनुष्य की चेतन अनुभूति के विस्तीर्ण क्षेत्र से, जीवन की सुस्पष्ट अग्रभूमि से ही, करता है। मैंने इस प्रकार के रचन को मनोवैज्ञानिक इसलिए कहा है कि वह अपनी प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक सुबोधता की सीमा का उल्लघन कही भी नही करता। अनुभूति और उसकी कलात्मक अभिव्यजना के रूप मे वह जो भी ग्रहण करता है उसका सम्बन्ध सुबोधता से है। स्वय आधारिक अनुभूतियों मे, यद्यपि वे सयुक्तिक नहीं होती, कोई वैचित्र्य नही है, वरन् वे तो अनादि काल से परिचित रही है—प्रेम और उसका प्रारब्ध-प्रेरित अन्त, भाग्य-चक्र से मनुष्य की पराधीनता, सुन्दर और भीषण प्रकृति, सभी चिरन्तन है।

'फाउस्ट' के प्रथम और द्वितीय भागो का गम्भीर अन्तर मनोवैज्ञानिक और दार्शन (विज़नरी) प्रकार के कलात्मक सर्जनों के अन्तर को स्पष्ट करता है। दार्शन रीति मनोवैज्ञानिक प्रकार के सारे नियमों को उलट देती है। वह अनुभूतियाँ, जो कलात्मक सर्जन के उपकरण जुटाती है, अब चिर-परिचित नही रह जाती। अब यहाँ सर्जन के उपादान कुछ अद्भुत से हैं, और मानव-मन के अन्त.प्रदेश से उद्भूत हुए हैं, काल के उस अनन्त विस्तार की याद दिलाते है जो हमे मानव-पूर्व युग मे अलग करता है, अथवा प्रकाश और अन्धकार के वैषम्य से पूरित एक अतिमानव ससार का आवाहन करते है। यह एक ऐसी आद्यानुभूति है जो मानव की बुद्धि के परे है और जिससे अवसन्न हो जाने का खतरा उसे है। इस अनुभूति की विराट्ता उसे शक्ति और महत्त्व देती है। काल की अनन्त गहराइयो से इसका उद्भव होता है, वह विदेशी और शीतल है, बहुमुखी है, दैत्य है, और विरूप है। यह शाश्वत अन्ध व्यवस्था का भयावह हास्यास्पद नमूना है और हमारे मानवीय मूल्यो तथा लालित्य के आदर्शों का विस्फोट कर देती है। वीभत्स और अर्थहीन घटनाओ का क्षोभक दर्शन या साक्षात्कार (विज़न), जो हर तरह मानव-सवेदना और बुद्धि के परे है, कला की शक्तियो से, जीवन की पूर्वभूमि की अनुभूतियों की अपेक्षा नितान्त भिन्न, माँगे उपस्थित करते है। (पूर्वभूमि की अनुभूतियाँ) विश्व पर पड़े हुए पर्दे को नही चीरतीं, मानवीय सम्भावना की सीमाएँ भी नही लाँघती, और इसलिए वे, व्यक्ति के लिए भले ही कितना बडा आघात क्यो न हो, कला की माँग तत्काल कर सकती हैं। परन्तु आद्य दर्शन, आद्यानुभव उस यवनिका को ऊपर से नीचे तक चीरकर रख देता है जिस पर एक सुव्यवस्थित जगत् चित्रित है और अभी तक असम्भूत की अतल गहराई की झलक दे देता है। यह दूसरे लोको का दर्शन है, अथवा आत्मा की मलिनता, अथवा मानव-युग के पहले की सृष्टि, अथवा भावी पीढियो की रूप-रेखा? हम नहीं कह सकते कि वह इनमे से क्या है या कुछ भी नहीं है।

मनोवैज्ञानिक कला-कृतियो पर विचार करते समय हमे उसकी सामग्री और अर्थ के विषय मे जिज्ञासा करने की किंचित् आवश्यकता नही है। किन्तु दार्शन-कृतियो की मीमासा करते समय यह जिज्ञासा अनिवार्य हो उठती है। क्योंकि उनकी अन्तर्वस्तु से हम चकित रह जाते हैं, सहम जाते है, भ्रान्त हो जाते है, सचेत हो उठते हैं, जुगुप्सा तक से भर उठते है। और तब हमे व्याख्याओ और टीकाओं की जरूरत महसूस होती है। वह सब पढकर हमे सामान्य दैनन्दिन मानव-जीवन की कोई बात याद नही आती, याद आते है स्वप्न, रात्रि के समय के भय, और मन की वे अन्धकारपूर्ण गहराइयाँ, जिनका अनुभव हम शकाकुल होकर करते है। पाठकों की बहुत बड़ी सख्या ऐसे साहित्य को अस्वीकार कर देती है और समालोचक भी उससे हतप्रभ हो जाते हैं। और यह सत्य है कि दाँते और वैगर ने ऐसे साहित्य का रास्ता साफ कर दिया है।

दार्शनिक (विज़नरी) रचनाओं की अन्तर्वस्तु के उत्स के विषय में अस्पष्टता बड़ी ही अद्भुत और मनोवैज्ञानिक कृतियों के ठीक विपरीत है। कभी-कभी हम यह सन्देह करने के लिए विवश हो जाते हैं कि यह अस्पष्टता अहैतुकी नहीं है। हमें सोचना पड़ता है और फ्रायडीय मनोविज्ञान हमें ऐसा सोचने के लिए प्रोत्साहित करता है कि इस विरूप तमस के पीछे कोई बड़ा व्यक्तिगत अनुभव छिपा है। इसी प्रकार हम इस अन्ध व्यवस्था की झलकों की व्याख्या कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि कभी-कभी ऐसा क्यों लगने लगता है कि कवि ने अपने आधारिक अनुभव को हमसे जान-बूझकर छिपाया है। ऐसी धारणा और इस कथन में थोड़ा ही अन्तर है कि यहाँ हम रुग्ण और विकृत-मज्जोत्पन्न कला की विवेचना कर रहे हैं। और यह अल्प अन्तर समीचीन भी है, क्योंकि इन दार्शन (विज़नरी) लेखकों की सामग्री के कतिपय लक्षण विक्षिप्तों की स्वैर कल्पना से बहुत मिलते-जुलते हैं। और इस बात का विलोम भी सत्य है—विक्षिप्तों की स्वैर कल्पना में हमें प्रायः ऐसी अर्थगम्भीरता मिलती है जिसकी अपेक्षा हम महान् प्रतिभा में ही कर सकते हैं। फ्रायड का अनुयायी मानस-शास्त्री ऐसी रचनाओं को विकृति-शास्त्र की एक समस्या के रूप में ग्रहण करेगा। जिसे मैं आद्यानुभूति या आद्य दर्शन (प्राइमोर्डिअल विज़न) कहता हूँ उसके नीचे कोई व्यक्तिगत अनुभव है जो चेतन मन को स्वीकृत नहीं हो सकता, इस धारणा के आधार पर फ्रायडवादी दर्शन या अनुभूति की विचित्र मूर्तियों की व्याख्या यह कहकर करेगा कि आवरक आकृतियाँ हैं और यह मानेगा कि वे उस व्यक्तिगत अनुभव को ढकने का प्रयास हैं। इस दृष्टि-कोण के अनुसार वह अनुभव एक ऐसे प्रणय का हो सकता है जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विवेक और सौंदर्य भाव को अंगीकृत नहीं हो सका। कवि ने अपने इस अप्रिय अनुभव को अहंकार के माध्यम से दमित करने और सदा के लिए उसे असम्बोध्य बना डालने के लिए रुग्ण कल्पना-जाल का सहारा लिया। यथार्थ को कल्पना से बदलने का यह प्रयास, असन्तोषजनक होने पर सर्जनात्मक अवतरणों में बार-बार दुहराया जाता है। और इससे काल्पनिक रूपों की विशद सर्जना की व्याख्या हो जाती है। एक ओर वे अग्राह्य अनुभव के प्रतिनिधि हैं, दूसरी ओर वे उसे छिपाने में सहायता करते हैं। फ्रायड के इस मत ने काफी ध्यान आकर्षित किया है और दार्शन (विज़नरी) साहित्य को 'वैज्ञानिक' रूप से समझने का यही एक-मात्र मान्य प्रयास किया गया है। मेरी समझ में इस प्रश्न पर मेरा अपना दृष्टिकोण न तो अधिक प्रकाश में आया है और न ठीक समझा गया है। मैं उसके रखने का प्रयास संक्षेप में करूँगा।

यदि हम दर्शन (विज़न) को एक व्यक्तिगत अनुभव से उद्भूत मानने पर आग्रह करते हैं तो हमें उस (विज़न) को गौण, यथार्थ का प्रतिनिधि-मात्र, मानना पड़ेगा। परिणामस्वरूप हम दर्शन को उसकी आद्या विशिष्टिता से रहित कर देंगे और उसे एक रोग-लक्षण से अधिक कुछ भी नहीं मान सकेंगे। सत्य यह है कि फ्रायडीय दृष्टिकोण हमें कृति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से दूर भटका देता है और उसके स्थान पर हमारे सामने कवि की मानसिक प्रकृति को हमारे सम्मुख ला रखता है। कवि (और कलाकार) का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण समस्या अवश्य है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु कला-कृति का भी स्वयं अपना कुछ महत्त्व है और उसे यों ही उड़ाया नहीं जा सकता। स्वयं कवि के लिए उसकी कृति का क्या अभिप्राय है, वह उसे व्यर्थ समझता है, या एक पर्दा, या व्यथा का माध्यम, अथवा उसे सफलता मानता है, इन बातों पर अभी हमें ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। अभी हमें कला-कृति की व्याख्या मनोवैज्ञानिक ढंग से करनी है। इसके

के लिए यह अनिवार्य है कि हम दर्शन (विज़न) पर, जो उसकी आधारिक अनुभूति है, गम्भीरता से विचार करें। उसे कम-से-कम हम उतना तो महत्त्व दें ही जितना मनोवैज्ञानिक वर्ग की कलात्मक सर्जना में हम उसके आधारिक अनुभवों को देते हैं और जिनकी सत्यता के विषय में किसी को सन्देह नहीं होता।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरमस के 'शेपर्ड', दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' और गोएटे के 'फाउस्ट' में आरम्भिक प्रेम के अनुभव प्रतिध्वनित हैं। किन्तु इस प्रकार के काव्यों में हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि 'दर्शन' (विज़न) एक सत्य आद्यानुभूति है। यह दर्शन कोई प्रत्युत्पन्न या गौण वस्तु नहीं है और न किसी रोग का निदान या लक्षण है। वह एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है, एक ऐसे पदार्थ की अभिव्यक्ति जिसका अपना अस्तित्व तो है किन्तु जो पूर्णतया ज्ञेय नहीं है। जिस प्रकार प्रेम का आधारिक अनुभव एक सच्चा अनुभव है, उसी प्रकार इस आद्य दर्शन (विज़न) की अनुभूति भी। हमें यह निश्चय करना आवश्यक नहीं है कि दर्शन का विषय भौतिक है, मानस या पराभौतिक। स्वतः उसकी अपनी मानस-सत्ता है और वह भौतिक अस्तित्व से कम यथार्थ नहीं। मानवीय प्रेम सबोध अनुभूति के क्षेत्र में आता है और दर्शन (विज़न) का आधार उसके परे है। अपनी सवेदना के माध्यम से हम ज्ञात की अनुभूति प्राप्त करते हैं, किन्तु हमारी अन्तःस्फूर्ति अज्ञात और गुप्त की ओर इंगित करती है, जो अपनी प्रकृति से रहस्यमय हैं। यदि वे कभी चेतन स्तर पर आ भी जाती हैं तो उन्हें दबा दिया और छिपा डाला जाता है। इसी कारण पुरातन समय से उन्हें रहस्यात्मक, खतरनाक और छलनामय माना गया है। मनुष्य उनसे अपनी रक्षा विज्ञान की ढाल और तर्क के कवच से करता आया है।

जीवन के इस अन्धकारमय पक्ष में दार्शन (विज़नरी) कलाकार ही नहीं आता, वरन् हमारे मर्मी सन्त, द्रष्टा, और पैगम्बर भी आते रहे हैं। यत्र-तत्र सर्वत्र अनादि काल से मानव उससे परिचित रहा है। आदिम मनुष्य की सृष्टि की रूप-रेखा का यह अनिवार्य अंग है। अन्ध-विश्वास से भय और तत्त्व-ज्ञान के प्रकाश के कारण विकसित मानव ने उसकी उपेक्षा कर दी। फिर भी आज स्वयं हमारे बीच में कवि को इन अन्धेरे लोकों के वासियों की झलक मिल जाती है। वह मानस-जगत् के अल्पांश को ही देख पाता है जो आदिम मानव के हृदय में भीषण भय का सचार करता रहा है। कोई भी आदिम संस्कृति ऐसी नहीं थी या है जिसमें रहस्य-दीक्षा का स्थान न रहा हो। अतएव कवि से अपेक्षित है कि वह अपनी अनुभूति को उपयुक्ततम अभिव्यक्ति देने के लिए पौराणिक गाथाओं की सहायता ले। यह समझना भूल होगी कि उसकी सामग्री पुरानी और गौण है। उसकी सर्जना का मूल उत्स है उसकी आद्यानुभूति, और सुस्पष्टता से ज्ञेय न होने के कारण उसे रूप-आकार देने के लिए पौराणिक कल्पनाओं की आवश्यकता पड़ती है। दाँते ने स्वर्ग और नर्क के सारे अधिकारियों से काम लिया है, गोएटे ने ब्लॉक्सबर्ग और ग्रीक पुराणों के नारकीय लोकों का, वैग्नर ने नारडिक पुराणों का, नीत्से ने प्रागैतिहासिक द्रष्टा और उसकी शैली का प्रयोग किया है। ब्लेक ने अपने लिए अवर्णनीय प्रतिमाओं का आविष्कार किया। और इन सारे प्रयासों में दिव्यतम से लेकर विरूपतम के बीच की सारी कथाएँ मिलती हैं।

---

१. इस वैज्ञानिक युग में दर्शन (विज़न) की सम्यता और उसके महत्व में विश्वास हो सकना बहुत कठिन है, फिर भी युङ्ग का मत है कि "दर्शन" (विजन) के पक्ष का समर्थन आवश्यक है।

इस बहुरंगी कल्पना-क्रम की व्याख्या करने में मनोविज्ञान असमर्थ है। उससे केवल इतना सम्भव है कि समस्त उपलब्ध सामग्री को अध्ययन के लिए एकत्र करे और उसकी समीक्षा के लिए उपयुक्त शब्दावली प्रस्तुत कर दे। इस शब्दावली के अनुसार दर्शन (विज़न) में जिसका आभास मिलता है वह है *सामष्टिक अवचेतन। सामष्टिक अवचेतन से हमारा अभिप्राय है आनुवंशिक प्रभावों द्वारा निर्मित एक निश्चित मानस-संस्कार।* इसी अवचेतन से चेतना की उत्पत्ति हुई है। जैसे शरीर के निर्माण में हमें विकास की आरम्भिक श्रेणियों का आभास मिलता है उसी प्रकार मानव मनस् के विकास के सम्बन्ध में हम यह उपेक्षा कर सकते हैं कि यह प्रक्रिया भी वंश-विकास के नियमों के अनुकूल हुई होगी। विक्षिप्तावस्था और नशे की हालत में अन्तर्मन के विषय तथा कल्पनाएँ ऊपर आ जाती है और उनमें हमें आदिम मानस के सारे लक्षण मिलते हैं। उनमें मिलने वाली प्रतिमाएँ ऐसी होती हैं जैसे वे पुरातन रहस्य-दीक्षाओं से प्रेरित हुई हों। आधुनिक आवरण में पौराणिक विषय भी प्रायः सामने आते रहते हैं। सामष्टिक अवचेतन की इन अवतारणाओं में साहित्य के अध्ययन के महत्त्व की वस्तु यह है कि वे सबोध प्रवृत्ति (कांशस ऐटिच्यूड) की पूरक होती है। अर्थात् वे एकपक्षीय, विकृत अथवा चेतना की खतरनाक स्थिति में प्रत्यक्षतः एक हितावह सामँजस्य ला देती है। स्वप्नों में यह प्रक्रिया बहुत स्पष्टता से घनात्मक रूप में दिखाई पड़ती है। विक्षिप्टतावस्था में यह क्षतिपूरक प्रक्रिया ऋणात्मक रूप में पूर्णतया स्पष्ट होती है।

यदि हम गोएटे के 'फाउस्ट' पर विचार करें और इस सम्भावना को अलग कर दें कि वह उसकी सबोध प्रवृत्ति का क्षतिपूरक हो सकता था, तो हमें इस प्रश्न का उत्तर देना होगा इस कृति का कवि की समसामयिक सबोध प्रवृत्ति से क्या सम्बन्ध है? महान् काव्य अपनी शक्ति मानवता के जीवन से ग्रहण करता है और यदि हम उसका अनुमान व्यक्तिगत तथ्यों से ही करने का प्रयास करें तो उसका अर्थ हम कभी नहीं समझ सकेंगे। जब सामष्टिक अवचेतन एक जीवन्त अनुभूति बन जाता है और वह किसी युग के सम्बोध संस्कार को प्रभावित करता है तो यह घटना एक सर्जनात्मक प्रक्रिया हो जाती है और उस युग में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्त्व की बन जाती है। उससे एक ऐसी कला-कृति की सृष्टि होती है जिसमें अंतर्भूत होता है मानवता की भावी पीढ़ियों के लिए सन्देश। इसीलिए आज भी 'फाउस्ट' प्रत्येक जर्मन की आत्मा को थोड़ा हिला डाले बिना नहीं रहता। इसीलिए गोएटे की कीर्ति अमर है। प्रत्येक युग का एक अपना पक्षपात, अपना विशिष्ट पूर्वग्रह, और अपनी आत्मिक व्याधि होती है। युग एक व्यक्ति के समान होता है। उसके सम्बोध संस्कार की अपनी सीमाएँ होती है और उसे एक क्षतिपूरक समायोजन की आवश्यकता रहती है। और इसकी पूर्ति सामष्टिक अवचेतन द्वारा होती है, जिससे एक कवि, द्रष्टा या जननायक अपने को युग की अव्यक्त इच्छाओं से परिचालित होने देता है और अपनी वाणी अथवा अपनी कर्मठता से उन के सम्पादन का मार्ग प्रदर्शित करता है, ऐसा मार्ग जिसे पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अन्धे के समान विकल है और उसे पाने की आशा में है, फिर चाहे इस सिद्धि का परिणाम शुभ हो या अशुभ, एक युग का उपचार हो या विनाश।

—*प्रस्तुत कर्ता : आत्मन्*

(आगामी अंक में समाप्य)

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

हिन्दी-कथाशिल्प में कथानक का ह्रास

प्राचीन काल मे, नियमित समाज-व्यवस्थाओ मे जब मनुष्य को सुख शान्ति से अर्जित अवकाश मिला और उस अवकाश को जब वह मनोरंजक साहित्य के सहारे व्यतीत करने चला, तब उसे ऐसी सरल कथाएँ अपेक्षित हुई, जिनमे उसे न अपनी बुद्धि लगानी पडती थी न विशेष स्मरण-शक्ति, बस सहज कौतूहल के सहारे वह दैवी-अदैवी, स्वाभाविक-अस्वाभाविक घटनाओ और कार्य व्यापारो के इतिवृत्त के पखो पर उड जाना चाहता था। लेकिन ज्यो-ज्यो मनुष्य के वही अवकाश के क्षण सीमित हो चले और जीवन सघर्षमय होने लगा, तब कलाकार ने कथा से आगे बढकर उसे कहानी-जैसी सुगठित कलात्मक वस्तु दी, जिसमे कथा को उसने बुद्धि-तत्त्व और शिल्प-चातुर्य से परिष्कृत करके कथानक बना दिया।

इस तरह मानव ज्यो-ज्यो विकास करता गया, कहानीकार उसके अनुरूप ही अपने कथानक-निर्माण मे उत्तरोत्तर प्रयोग करता गया और यह प्रयोग भावभूमि की दृष्टि से स्थूल-से सूक्ष्म की ओर और शिल्प की दृष्टि से क्रमशः घटना-क्रम के ह्रास की ओर बढता गया।

हिन्दी-कहानियो के विकास के प्रथम चरण से लेकर आज तक की कहानी-प्रगति को देखने से कथा-तत्त्व मे यह ह्रास स्पष्ट होता चला गया है। लेकिन वह ह्रास भौतिक तत्त्वो के आधार से कहा गया है, विधानात्मक आधार से नही। शिल्प-विधि की दृष्टि से कथानक का भौतिक ह्रास कहानी कला का उत्थान है, जहाँ कहानी अपने कथानक तत्त्व मे बाह्य उपकरणो से आगे बढकर आन्तरिक उपकरणो तथा स्थूल से सूक्ष्म तत्त्वो को क्रमश. अपना उपजीव्य बनाती चलती है।

हिन्दी-कहानियो मे कथानक का यह ह्रास बहुत ही क्रमिक और कुछ निश्चित विधानात्मक अवस्थाओ और कारणो के फलस्वरूप हुआ है।

प्रेमचन्द और प्रसाद के पूर्व हिन्दी की जितनी प्रारम्भिक कहानियाँ 'सरस्वती' के माध्यम से आई वे सब कथानक-प्रधान कहानियाँ हैं। इसका निश्चित कारण है। वस्तुत इन कहानियो के कथानको पर एक ओर प्रायः शेक्सपियर के सम्पूर्ण नाटकों के इतिवृत्त की छाया पडी थी और दूसरी ओर इनके निर्माण सस्कृत के नाटको और लोक-कथाओं की कथावस्तु के आधार पर हो रहे थे। इसके उदाहरण मे क्रमशः किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती', गिरिजादत्त वाजपेयी का 'पति का पवित्र प्रेम', केशवप्रसादसिह-कृत 'चन्द्रलोक की यात्रा', लाला पार्वतीनन्दन-कृत 'प्रेम का फुआरा' आदि कहानियो के कथानक लिये जा सकते हैं। शैली, विस्तार और अपने सम्पूर्ण रूप-विधान में उक्त कहानियो के कथानक कथा के समीप चले गए है। रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'ग्यारह वर्ष का समय' कहानी का कथानक, कथा-तत्त्व की इतिवृत्तात्मकता, विस्तार और सम्पूर्णता का सबसे सुन्दर उदाहरण है। दैवी सयोग, आकस्मिकता और आश्चर्यजनक भाग्य-

व्यापारो के बीच से कथानक निर्मित हुआ है और इस निर्माण-सूत्र मे तीन लम्बी-लम्बी कथाएँ (प्रथम, स्वय कहानीकार के मुख से, द्वितीय, कहानी के नायक के मुख से, तृतीय, कहानी की नायिका के मुख से) एक मे गुँथकर आई हैं। देश काल-परिस्थिति मे इस लम्बे कथानक का विस्तार क्रमशः गाँव के खण्डहर से लेकर बनारस तक, फिर बनारस से कलकत्ता तक, ग्यारह वर्ष की अवधि तक घूमता हुआ एक दैवी-सयोग बिन्दु पर समाप्त होता है।

कथानक का यही रूप-विधान आगे 'सरस्वती' के १६०६ तक के अको मे प्रकाशित कहानियों-जैसे, बग-महिला-कृत 'कुम्भ मे छोटी बहू', चतुर्वेदी-कृत 'भूलभुलैया', लक्ष्मीधर वाजपेयी-कृत 'तीक्ष्ण छुरी', बग-महिला-कृत 'दुलाईवाली', वृन्दावन लाल वर्मा-कृत 'राखीबन्द भाई' और 'तातार और एक राजपूत' आदि-में मिलता रहता है।

उक्त समस्त कहानियो के कथानक कथा की-सी इतिवृत्तात्मकता, विस्तार और रूप-विधान लेकर इसीलिए आए हैं, क्योकि इस प्रारम्भिक विकास-काल मे वर्णनात्मकता के पुट से घटनाओ का विस्तार, सयोग और अप्रत्याशित कार्य-व्यापारो की प्रतिष्ठा मे निर्मित कथा-सूत्र ही में पाठक को आनन्द मिलता था। उसे कहीं से भी कथा-सूत्र के साथ चरित्र को देखने या आँकने की अपेक्षा नहीं थी। एक तरह से कथा-निर्माण की प्रक्रिया में चरित्र यो ही आ जाते थे, उनकी कोई भी व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा नही थी। अस्तु इस काल की कहानियो मे मुख्यता केवल कथानको की थी, चरित्र की नही।

इसके उपरान्त कहानी-क्षेत्र में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द और प्रसाद का आविर्भाव होता है।

यहाँ सर्वप्रथम कथानक और चरित्र को समान विशेषता मिलती है। यहाँ यह स्पष्ट हुआ कि बिना चरित्र स्थापना के कथानक का सजीव निर्माण ही नहीं हो सकता। यहाँ यह भी पता चला कि कथा-सूत्र मे घटने वाली समस्त घटनाएँ, कार्य-व्यापार, चाहे सयोग या अप्रत्याशित ढग से ही क्यो न सही, यो अपने-आप वर्णनात्मकता के माध्यम से नहीं होते चलते, वरन् चरित्र स्वय सामने आते हैं, कार्य-सूत्र अपने हाथ लेते हैं तथा जीवन-सग्राम और काल-चक्रों से थपेड़े खाते हुए अपने अद्भुत किन्तु अत्यन्त मानवीय कथानक अपने आप निर्मित कर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि गुलेरी कृत 'उसने कहा था', 'सुख-समय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' तथा प्रसाद की प्रथम उत्थान की कहानियाँ, 'सिकन्दर की शपथ', 'जहाँनारा', 'अशोक', 'चित्तौर उद्धार' और प्रेमचन्द की प्रथम उत्थान की कहानियाँ, जैसे, 'रानी सारन्धा', 'पाप का अग्नि-कुण्ड' 'नमक का दरोगा', 'पञ्च परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' आदि अपने कथा-विस्तार मे पहले से कुछ कम हैं। बल्कि पहले की अपेक्षा इन कहानियो के कथानक अधिक लम्बे, अधिक विस्तृत और अधिक देश-काल-परिस्थिति के साथ आए हैं। लेकिन इन कथानकों मे पूर्ववर्ती कथा के तत्त्व (दैवी सयोग, अस्वाभाविकता, केवल वर्णनात्मकता) नही है। अर्थात् यहाँ कथानक कथा-तत्त्व के लिए इतने विस्तृत नही हुए है वरन् चरित्र-चित्रण के लिए कथानक को इतने विस्तार मे जाना पड़ा है। 'उसने कहा था' के लहनासिंह और सूबेदारनी, जो बचपन मे एक बार बम्बूकार्ट वालो के बीच मे मिले थे, उनके सम्पूर्ण चरित्र-चित्रण के लिए कथानक को बम्बूकार्ट से फ्रांस तक खिंचना होता है, बचपन से युवा के पच्चीस वर्षों के अन्तराल को लाँघना पडता है। इस तरह यहाँ चरित्र के सम्पूर्ण जीवन को बाँधने मे तथा उसके चरित्र आँकने मे कथानक को इतना विस्तृत होना पड़ा है, केवल कथा-सूत्र के मनोरजक विस्तार के लिए नहीं।

प्रेमचन्द के प्रथम उत्थान की कहानियाँ, जो क्रमशः 'सप्त सरोज', 'नवनिधि' और 'प्रेम पचीसी' में आई हैं, इनके कथानकों की लम्बाई और विस्तार पर तो आज आसानी से उपन्यास लिखे जा सकते हैं। एक-एक कथानक के निर्माण और विकास में बीसों मोड तैयार किये गए हैं। लेकिन फिर भी इन कथानकों की लम्बाई घटना और कार्य-व्यापारो का इतिवृत्त नहीं, बल्कि विस्तृत जीवन की भावभूमि के खाके अधिक हैं। यहाँ कथानको का धरातल, विषय के एक प्रसग के स्थान पर वह पूरा विषय होता था, जिसमे न जाने कितनी अन्य सवेदनाएँ और जीवन की इकाइयाँ आ जाती थीं। फलतः कथानक स्वभावतः लम्बे और विस्तृत हो जाते थे, क्योंकि इनकी लडी मे प्रेमचन्द एक समूचे परिवार, एक वश या व्यक्ति के जीवन का पूरा भाग गूँथते थे। यही कारण है कि प्रेमचन्द को उक्त सग्रह की कहानियों के मूल कथानक के साथ सहायक कथानक भी कही-कहीं जोडना पडता था।

प्रसाद की 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की उन कहानियो मे, जो ऐतिहासिक इतिवृत्त से निर्मित हुई है, कथानक का रूप-विधान प्रायः प्रेमचन्द-सा ही है। लेकिन प्रसाद की इस चरण की वे कहानियाँ जो कल्पना, भावुकता की भावभूमि से निर्मित हुई हैं, जैसे, 'प्रलय', 'प्रतिभा' 'दुःस्वप्न' और 'कलावती की शिक्षा, आदि, इनके कथानक अत्यन्त छोटे और सूक्ष्मता की ओर बढे हैं। इन कथानको मे सम्पूर्ण जीवन न लेकर जीवन का एक प्रसग लिया गया है और उन प्रसगो मे भी एक विशिष्ट भावना का ही प्राधान्य है, घटना या कार्य-व्यापार का नही।

प्रेमचन्द के द्वितीय उत्थान-काल, 'प्रेम प्रसून' और 'प्रेम द्वादशी' आदि सग्रह की कहानिया के कथानक छोटे हुए हैं। अब कथानक मे सम्पूर्ण जीवन के स्थान पर जीवन का एक अश लिया जाने लगा है और उस अश मे भी अब अधिक ध्यान चरित्र पर दिया जाने लगा है। कथानक में अब उतने ही मोड, उतने ही कार्य-व्यापार और घटनाएँ आने लगी है, जिनसे चरित्र के जीवन का एक विशिष्ट अश प्रकाशित हो जाय।

और इस काल मे आकर कथानक के छोटे होने के पीछे चरित्र पर मनोविज्ञान की सफल और जागरूक प्रतिष्ठा कारण-स्वरूप है, प्रेरणा-रूप है।

प्रेमचन्द की 'बूढी काकी', 'शतरज के खिलाडी' 'मैकू', 'वज्रपात' और 'डिक्री के रुपये' आदि कहानियो के कथानक उतनी ही सीमा मे है, जितने से कहानी की मूल सवेदना और चरित्र का विशेष मनोविज्ञान सम्बन्धित है। अतएव यहाँ सहायक कथानक अपने-आप नष्ट हो गए है। कथानको मे कही भी द्विपक्षता नही, उसके स्थान पर यहाँ सकेतो, व्याख्याओ और कथोपकथनो से काम लिया गया है। यहाँ कथानको मे जीवन की एक इकाई, एक सवेदना और एक प्रसग लिया गया है, अस्तु कथानक छोटे हो गए है और उनके स्थान पर चरित्र उभर आए है। 'आत्माराम', 'बूढी काकी' 'मैकू' 'शतरज के खिलाड़ी' आदि कहानियो के कथानक हमें भूलने लगे है, लेकिन सुनार आत्माराम, बूढी काकी, भूखी बूढी काकी, और शतरजबाज, मीर, और मिर्जा साहब, हमे याद रहने लगे हैं। और इस याद के पीछे उनके जीवन के एक पक्ष का मनोविज्ञान हमें हरदम अभिभूत किये रहता है।

'प्रसाद' के द्वितीय उत्थान-काल की कहानियाँ 'आकाश-दीप' की कहानियाँ है। 'आकाश-दीप', 'स्वर्ग के खण्डहर मे', 'चूडी वाली' और 'बिसाती' कहानियो के कथानक लम्बे अवश्य हैं, लेकिन नाटकीयता के साथ व्यजना लिये हुए हैं। दूसरी ओर 'हिमालय के पथिक', 'प्रतिध्वनि',

'वैरागी', 'अपराधी' और 'रूप की छाया' आदि कहानियो के कथानक अत्यन्त छोटे और प्रासगिक हुए हैं।

'आकाश दीप', 'चूड़ी वाली' और 'बिसाती' मे मनोविज्ञान के आधार पर अन्तर्द्वन्द्व और मानवीय संघर्ष की प्रतिष्ठा हुई है और इन कहानियों के कथानक इसी मनोवैज्ञानिक सघर्ष के प्रतिरूप है, इन कथानकों का अपना कोई मूल रूप नही। यहाँ कथानकों में जीवन की लम्बी-लम्बी संवेदनाएँ, और इतिवृत्त को एक छोटे से कथानक-सूत्र मे समेट लिया गया है और उनमें कौतूहल का चमत्कार पैदा कर दिया गया है। प्रसाद ने यहाँ कथानक निर्माण मे एक नये कथानक-तन्त्र की सहायता ली है और इस तन्त्र निर्माण में उन्होने अपनी नाटकीयता, व्यजना और सन्दर्भ की सामूहिक सहायता ली है।

कथोपकथनो से कहानी आरम्भ करके कथानक मे द्वन्द्व पैदा करना, इसके उपरान्त वस्तु-स्थिति को वर्णन या व्याख्या द्वारा स्पष्ट न करके सकेतो द्वारा स्पष्ट करना, फिर कथोपकथनो द्वारा अन्तर्द्वन्द्वो की अभिव्यक्ति और अन्त मे साकेतिक वर्णनो से कथानक को चरम सीमा पर सहसा छोड देना—कथानक की यही वस्तुस्थिति प्रसाद के तृतीय उत्थान-काल की कहानियो, जैसे, 'पुरस्कार', 'आँधी', 'नीरा', 'दासी', 'गुण्डा' और 'सालवती' आदि मे भी पाई जाती है।

प्रेमचन्द के तृतीय उत्थान-काल की कहानियो मे कथानक का रूप-विधान और भी कलात्मक हो गया है। इनके मुख्यत. तीन धरातल हैं—

१—किसी व्यक्ति के या समस्या के केवल एक पक्ष को धरातल मानकर, जैसे, 'कुसुम', 'गुल्ली डण्डा' और 'मिस पद्मा' आदि।

२—व्यक्ति के बाह्य सघर्ष और आन्तरिक मनोविज्ञान के प्रकाश मे उसके जीवन के लम्बे भाग को धरातल बनाकर, जैसे, 'दो कब्रें', अल्ग्योझा' और 'नया विवाह' आदि।

३—मनोविज्ञान की अनुभूति के धरातल से निर्मित कथानक, जैसे, 'कफन', 'मनोवृत्ति' और 'पूस की रात' आदि।

तीसरे धरातल के कथानक अत्यन्त छोटे और व्यजनात्मक हैं, यहाँ लगता है, जैसे कोई मनोवैज्ञानिक बिन्दु ही कहानी-भर मे कथानक के नाम पर सूक्ष्म सी रेखा बनाता गया हो।

प्रेमचन्द और प्रसाद युग के उपरान्त हिन्दी कहानियो के विकास-क्रम मे जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय कला की दृष्टि से दो महान् क्रान्तिकारी और सफल शिल्पी कहानीकार आते हैं। इनके हाथो मे कथानक के रूप-निर्माण और शैली मे आश्चर्यजनक प्रयोग हुए। यहाँ इनकी कला का मूल केन्द्र चरित्र बना और इसी चरित्र के मेरुदण्ड से इन्होने कथानक के प्रयोगों मे अपूर्व उद्भावनाएँ की। मुख्यतः इसके दो कारण थे—

क मनोविज्ञान के विकास से उपलब्ध मनोविश्लेषण की पद्धति का प्रयोग होना।

ख व्यक्तिगत चरित्रो की उद्भावना और अपने व्यक्तित्व मे उनका अधिक-से-अधिक अन्तर्मुखी होना।

जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द और प्रसाद के कथानक-विधान से बहुत ही आगे बढकर अपने विधान को स्थूल उपकरणों से सूक्ष्मता की ओर बढाया। इनमे सर्वप्रथम बाह्य से अन्तर लाने का आग्रह पूर्ण सफलता से स्पष्ट है। यही कारण है कि जैनेन्द्र की कहानी-कला मे कथानक-विधान के नये-नये कौशल, नये-नये प्रयोग हुए हैं और इनमें उन्हें आश्चर्यजनक हस्तलाघव का परिचय

मिला है।

जैनेन्द्र की समस्त कहानियों का मेरुदण्ड चरित्र है और उस चरित्र की प्रतिष्ठा उन्होंने मनोविज्ञान पर की है। इस दृष्टि से हम उनकी समस्त कहानियों को चार भागों में बाँट सकते हैं—

प्रथम : जो व्यक्ति के जीवन के एक लम्बे पक्ष को लेकर लिखी गई हैं, जैसे, 'मास्टर जी'।

द्वितीय : जो एक रात या कुछ घण्टों के जीवन-चक्र के आधार पर निर्मित होकर चरित्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन उपस्थित करती हैं, जैसे, 'एक रात'।

तृतीय : जो चरित्र के विशिष्ट क्षेत्रों के आधार पर लिखी गई हैं और वे उसके जीवन के किन्हीं विशिष्ट चित्रों की द्रुत झाँकी उपस्थित करती है, जैसे, 'क्या हो'।

चतुर्थ : जो मात्र चरित्र-विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर लिखी गई हैं, जैसे, 'मित्र विद्याधर'।

प्रथम प्रकार में कथानक सुस्पष्ट तथा अपने निश्चित इतिवृत्त के साथ आया है। यहाँ कथानक का निर्माण चरित्र के विकास-क्रमों और घटना-चक्रों के माध्यम से हुआ है। दूसरे प्रकार मे कथानक अत्यन्त बौद्धिक धरातल से निर्मित हुआ है। इसके विकास और निर्माण में बाह्य कार्य-व्यापारो की अपेक्षा मानसिक सूत्रो का सहारा लिया गया है। अतएव ऐसे कथानक अत्यन्त सूक्ष्म हो गए हैं। इन्हे हृदयगम करने के लिए पाठक को भी पूर्ण जागरूक, बौद्धिक और सशक्त रहना होगा। तीसरे प्रकार के कथानक अपेक्षाकृत और सूक्ष्म तत्त्वो से निर्मित हुए हैं। वे कुछ क्षेत्रों की मनःस्थिति की आधार-शिला से मनोद्वेगों, घात-प्रतिघातो के साधन से व्यक्त हुए हैं। ये नाम-मात्र के कथानक हैं। वस्तुतः ऐसी कहानियों में जैसे, कोई भाव ही फैलकर स्वय कहानी बन गया है और उसमे कथा-तत्त्व, चरित्र आदि इस तरह सकुचित हो गए हो कि इन सब तत्त्वो की अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही एक-दूसरे मे खो गई हो। 'क्या हो' मे सब-कुछ स्मृति-चिन्तन द्वारा ही व्यक्त किया गया है, लेकिन फिर भी कथानक-तत्त्व इतने सूक्ष्म स्वरूप मे होता हुआ भी अपने मे इतना वेग रखता है कि सम्पूर्ण कहानी, जैसे किसी अग्निशिखा-सी प्रतीत होती हो, जो किसी तूफान की गति मे जलती-जलती सहसा टूट जाती है। चौथे प्रकार मे एक तरह से कथानक का पूर्ण ह्रास हो गया है, क्योकि ये कहानियाँ चरित्र की आन्तरिकता के रेखा-चित्र है, फलत. यहाँ सूक्ष्म भावो, मनोविकारो को स्थूल कथानक मे समेटा ही न जा सका है।

कुछ अर्थों मे अज्ञेय इस दिशा मे जैनेन्द्र से भी आगे बढ गए हैं। यद्यपि यह सत्य है कि कथानक-विधान मे सबसे पहले क्रान्ति जैनेन्द्र ने ही की है और इसमे प्रयोग के अनेक मार्गों की सम्भावना उपस्थित की है। अज्ञेय ने मुख्यतः व्यक्तिगत पहलू को अपनी कला का केन्द्र बनाकर अपनी सब तरह की कहानियाँ लिखी है। इनकी कहानियों की चार विभिन्न कोटियाँ है—पहली कोटि मे, सामाजिक आलोचना-सम्बन्धी कहानियाँ हैं, दूसरी मे राजनीतिक बन्दी-जीवन-सम्बन्धी, तृतीय—चरित्रविश्लेषण-सम्बन्धी, और चतुर्थ—प्रतीकों के सहारे मानसिक सघर्षों के अध्ययन-सम्बन्धी। अज्ञेय ने कथा-विधान मे नूतन प्रयोग अपनी इन्हीं तृतीय और चतुर्थ कोटि की कहानियों में किया है।

अगर चरित्र सश्लिष्ट है, उसकी मनःस्थिति में गूढ़ ग्रथियाँ हैं, तो कहानी में ऐसे चरित्रों को बाँधने के लिए उन कथानकों की रचना हुई है, जिनके विधान में उस चरित्र से सबन्धित अनेक कर्म-प्रेरणाओं के विवरण दिये गए हैं। 'पुरुष का भाग्य' में एक ऐसे स्त्री-चरित्र का

विश्लेषण किया गया है जो राह चलते-चलते इस नगण्य सयोग से कँपकर गिरने लगी थी कि उसका पैर एक बच्चे के गीले पैर की छाप पर पड़ गया था।

प्रतीकों के सहारे मानसिक सघर्षों के चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानियों में भी कथानक-विधान दो ढग से प्रयुक्त हुए हैं—

प्रथम : व्यक्ति के आत्म-चिन्तन, तथा उससे सम्बन्धित भूत, वर्तमान और भविष्य की अनेक स्फुट समवेदनाओं के तादात्म्य से, जैसे, 'पठार का धीरज', 'सिगनेलर' और 'नम्बर दस' के कथानक।

द्वितीय : चिन्तन और छोटी-छोटी घटनाओं के मेल से, जैसे, 'साँप', 'कोठरी की बात' और 'पुलिस की सीटी' आदि के कथानक।

कथानक-विधान का यही स्वरूप इलाचन्द्र जोशी की उन कहानियों में सफलता से मिलता है जो व्यक्ति के अह-विश्लेषण और अह की एकान्तिकता पर निर्मम प्रहार के लक्ष्य से लिखी गई हैं, जैसे 'मैं', 'मिस एल्किन्स', 'रात्रिचर', 'पागल की सफाई' और 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ'। इन कहानियों में कथानक अपने व्यजनात्मक रूप में केवल भावों, मनोद्वेगों के विश्लेषण के बीच से चला है। 'मैं' मे तो कोई कथानक ही नहीं है, बस केवल आत्म-विश्लेषण के आधार पर चिन्तन की एक स्फुट झाँकी है। इसे हम कहानी न कहकर निबन्ध भी कह सकते हैं।

इस काल में जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और यशपाल की कुछ कहानियों के कथा-तत्त्व मे यही सूक्ष्मता सफलता से आई है। 'अश्क' की दो कहानियाँ 'पिंजरा' और 'पत्नी-व्रत' में कथा-सूत्र अपनी इतिवृत्तात्मकता को एकदम से छोड़कर टुकड़ों मे बँटा हुआ है, जिसे पाठक अपनी ओर से जोड़कर कथानक की एकसूत्रता को समझ सकता है, सीधे कहानी से नही।

हिन्दी-कहानियो मे कथानक का यह ह्रास आज के नव-कहानीकारो—जैसे, रागेय राघव, प्रभाकर माचवे, जनार्दन मुक्तिदूत, मोहन राकेश, कृष्णानन्दन सिनहा, रघुवश, मदन वात्स्यायन, ओंकार शरद, सत्येन्द्र, शमशेर आदि—की कला में सर्वत्र स्पष्ट है। युग ज्यों-ज्यों बौद्धिक होता जा रहा है, चरित्र ज्यो-ज्यो सश्लिष्ट, अन्तर्मुखी और दुरूह होते जा रहे है, हमारे चेतन और अवचेतन से अनुपात न होने के कारण ज्यों-ज्यो मानव मन अज्ञेय होता जा रहा है, उसीके अनुरूप आज का कहानीकार कथानक को पीछे छोड़ता हुआ केवल चरित्र-विश्लेषण, और अध्ययन के लिए दौड़ रहा है। इसके फलस्वरूप कथानक अपने मूल रूप में नष्ट होता हुआ निम्न लिखित रूपों में देखने को मिलता जा रहा है—

(१) बिखरे हुए टुकड़ो के रूप मे कथा-सूत्र।

(२) साकेतिक और व्यजना के रूप मे।

(३) कहानी जहाँ समाप्त होती है, वहाँ से कथानक आरम्भ होता है।

(४) कहानी की चरम सीमा पर कथा-सूत्र स्पष्ट होता है।

(५) कथानक कहानी में रहकर पाठक को अपने मन मे उसकी कल्पना करते चलना पडता है।

कथानक के उक्त पाँच रूपो मे टूटकर बिखर जाने के पीछे प्रायः इतने ही कारण और स्थितियाँ भी गिनाई जा सकती है। आज कहानी-निर्माण का समूचा और एक-मात्र सूत्र चरित्र होने

के नाते, कहानी की शिल्प-रेखाएँ अत्यन्त कोमल पर अन्तर्मुखी हो गई हैं, इस विधान का सबसे बड़ा प्रभाव कहानी के चरित्र पर पड़ा है। चरित्र निष्क्रिय हो गए हैं, फलतः आज की कहानियों के पात्र प्रायः स्थिर होने लगे हैं। वे कार्य रत न होकर चिन्तन-रत हो गए हैं, फलतः कहानी में आज न घटनाएँ घटती हैं, न कार्य-व्यापार होते हैं, और जो-कुछ होते भी हैं, वे चरित्र के मन में होते हैं। चूँकि आज के चरित्र का मन अनेक कुण्ठाओं, भ्रान्तियों, अविश्वासों और विशृङ्खलताओं से अभिभूत है, और उसी मन की देश-काल-परिस्थिति में कहानी का निर्माण हो रहा है, फलतः कहानी मे कथानक का किसी भी रूप मे टूटकर बिखरते जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। कथा-सूत्र की इसी विशृङ्खलता के फलस्वरूप कहानी के विधान में आज नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। वस्तुतः आज प्रत्येक कहानी अपने मे नये विधान प्रतिष्ठित करने की दावा करने जा रही है। सच तो यह है कि इसी कारण आज की कहानी-कला आधुनिकतम चित्र-कला के दिनोदिन समीप आती जा रही है।

किन्तु इससे कथा की रोचकता अवश्य नष्ट हुई है। कहानियाँ अपने दृष्टिकोण और चरम परिणति में अस्पष्ट और रहस्यात्मक होती जा रही हैं। इनमें निश्चित इतिवृत्त तथा स्पष्ट सहानुभूति से निर्मित कथानक का इतना ह्रास होता चल रहा है कि आज की कहानियों को सरलता से समझना साधारण पाठकों के लिए असम्भव हो गया है। विकास की दृष्टि से, प्रयोग के मोह में पडकर इसे उत्तरोत्तर इसी पथ पर बढाते चलना बहुत स्वस्थकर नही है, यह निश्चित है।

ससार के कहानी-साहित्य मे आदि काल से लेकर आज तक जितनी भी कहानियाँ सर्व-श्रेष्ठ सिद्ध हुई हैं, उन सबमे किसी-न-किसी रूप में कथानक की कुशल प्रतिष्ठा है। कला की दृष्टि से किसी भी रूप में कथानक का विधान कहानी-कला के विकास का एक ऐसा राजमार्ग है, जिस पर चलकर कहानी अभी भी उत्तरोत्तर अपने स्वर्णिम युग को प्राप्त हो सकती है, बिना इसके कहानी आधार हीन हो जायगी और उसका विकास समाप्त हो जायगा और उसके स्थान पर निबन्ध आ जायगा।

आज भी पश्चिम के कुछ बड़े जगद्विख्यात कहानीकार—जैसे, स्टीनबेक, सरोयान, ग्राहम-ग्रीन आदि—कहानी-कला मे निश्चित कथानक प्रतिष्ठा के पक्ष मे है, फिर कुछ हिन्दी-कहानियों ही मे प्रयोग के नाम पर कथानक को नष्ट कर देना, कहाँ तक उचित है।

डॉ० देवराज

समकालीन आलोचना : कुछ खतरे

: १ :

आलोचना के प्रधान उद्देश्य दो कहे जा सकते हैं—आलोच्य कृति या कृतियो का विश्लेषण, और उस विश्लेषण द्वारा पाठको की रुचि का परिष्कार। कृति-विशेष का विश्लेषण और मूल्याङ्कन प्राय साथ-साथ चलत है, क्योकि विश्लिष्ट तत्त्वो मे कुछ कृति के सौन्दर्य को बढाने वाले होते है और कुछ उसे कम करने वाले। साहित्यिक सिद्धान्त इन्हीं तत्त्वो के बारे मे सामान्य-कथन-रूप होते है। श्रेष्ट आलोचक पाठको की रुचि को ऊँची एव सूक्ष्म सवेदना के धरातल पर प्रतिष्ठित करता हुआ उस (रुचि) का परिष्कार करता है। वह पाठको मे मूल्याकन के सही सूत्रो की मूर्त चेतना भी उत्पन्न करता है।

हमने कहा कि श्रेष्ठ आलोचना पाठको की रुचि का परिष्कार करती है। इससे सम्बद्ध ही सत्य यह है कि खराब आलोचना पाठकों की रुचि में विपर्यय भी उत्पन्न कर सकती है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि समय-समय पर 'समीक्षा की समीक्षा' भी होती रहे—आलोचक-विचारक एक-दूसरे की मान्यताओ तथा समीक्षा-प्रणालियो की सतर्क परीक्षा करते रहे। इस परीक्षा की सफलता के लिए एक और चीज आवश्यक है—सतर्क पाठको का एक समुदाय, जो आलोचनात्मक विवादों मे मध्यस्थ बन सके, जो विशुद्ध जिज्ञासा की भावना से प्रेरित हो और वादो तथा दलबन्दियों के ऊपर हो।

सब प्रकार के पाठको से क्षमा-याचना करते हुए हम एक वक्तव्य दे यह कि हिन्दी आलोचना अभी तक नितान्त अविकसित दशा मे है। यह बात उसके सिद्धान्त पक्ष और व्यावहारिक पक्ष दोनो पर लागू है। इस अविकसित स्थिति के अनेक सकेत और हेतु है। पिछले पचास-साठ वर्षों मे हिन्दी ने किसी तेजस्वी, मौलिक विचारक को जन्म नही दिया—ऐसे विचारक को, जो दूर से भी टॉलस्टाय, क्रोचे, टी० एस० इलियट आदि का समकक्ष हो सके। ग्रन्थो की दृष्टि से देखें तो हिन्दी मे शायद ही कोई कृति निकले जिसे "शेक्सपीरियन ट्रेजडी", "ऑक्सफार्ड लेक्चर्स ऑन पोयट्री", 'प्रिन्सिपिल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज़्म"—जैसी प्रौढ रचनाओ से तुलित किया जा सके।[1] अवश्य ही इधर कुछ पाण्डित्यपूर्ण अन्वेषण-ग्रन्थ[2] हमारे सामने आए है, किन्तु इस प्रकार की रचनाएँ विशुद्ध आलोचना की कोटि मे नहीं आती। जब हम आलोचको और आलोचना-पुस्तको की बात करते है, तो हमारा मतलब प्राय. उन लेखको और कृतियों से होता है जिनकी हमारे युग और उसके सृजनात्मक साहित्य के लिए प्रासङ्गिकता है।

यह नही कि आज हिन्दी मे व्यावहारिक आलोचना नहीं लिखी जा रही है, अथवा

१. यह लिखते हुए शुक्ल जी की कृतियाँ मेरी दृष्टि मे न हों, ऐसा नहीं है।

२. जिनम श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की कृतियों का विशेष स्थान है।

सिद्धान्तों की चर्चा नहीं की जा रही है, पर यह सब ऐसे अपरिपक्व ढङ्ग से हो रहा है कि उच्च कोटि की समीक्षा-पुस्तकें प्रस्तुत नहीं हो पातीं। यहाँ 'उच्च कोटि की' से हमारा मतलब है, ऐसी रचनाएँ, जो विश्व-साहित्य की सजातीय रचनाओं के धरातल को छूती हों।

इस स्थिति के अनेक कारण हैं। हमारे देश में वैसी आलोचना-परम्परा नहीं रही जैसी कि यूरोप के कुछ देशों मे रही। दूसरे, हिन्दी में ऐसे समीक्षक कम हैं जो क्लासिकल संस्कृत-साहित्य तथा आधुनिक यूरोपीय साहित्य दोनों से सुपरिचित हों। तीसरे, हमारे अधिकांश आलोचक-बन्धु साहित्य से बाहर की समस्याओं एवं विचार परम्पराओं से वैसा घना सम्पर्क नहीं रख पाते जैसा कि यूरोपीय समीक्षकों का होता है—उदाहरण के लिए रिचर्ड्स ने शब्दार्थ-सम्बन्ध-जैसे दुरूह दार्शनिक विषय पर पुस्तक लिखी है, और टी० एस० इलियट ने सांस्कृतिक-धार्मिक-सामाजिक प्रश्नों पर गम्भीर चिन्तन किया है। इस दृष्टि से हमारे अधिकांश लेखक-आलोचकों की मार्क्सवाद से आगे पहुँच नहीं है, और उस वाद को भी वे विश्व की महत्त्वपूर्ण विचार-धाराओं के बीच रखकर कम देख पाते हैं। चौथा और विशेष महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि देश का साम्प्रतिक वातावरण लेखक को लम्बी, एकान्त साधना नहीं करने देता। हिन्दी का प्रतिभाशाली लेखक शीघ्र ही अपनी शक्तियों को इधर-उधर बिखेरने को विवश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह ठोस सृष्टि नहीं कर पाता। विज्ञापनबाजी, दलबन्दी, तथा नारेबाजी (जो विज्ञापन का ही एक ढङ्ग है) भी हमारे साहित्य का स्तर ऊँचा उठने में बाधक हो रहे हैं।

हिन्दी की विचारात्मक समीक्षा का दायरा इस समय बहुत सकुचित है। इने-गिने प्रश्नों पर विवाद होता है, और वह भी उन पर जिनका साहित्य से सीधा सम्बन्ध कम है। ऐसे वातावरण मे यदि कोई दूसरे प्रश्न उठाता है तो उन पर ध्यान नहीं दिया जाता। अतः प्रतिभाशाली के सामने एक ही रास्ता रह जाता है—नारेबाजी। जब तक आप कोई सनसनीपूर्ण बात न कहे, तब तक इसकी उम्मीद नहीं कि आपकी बात सुनी जायगी। आपका नारा कितना ही मूर्खतापूर्ण क्यों न हो, वह निश्चय ही ध्यान आकृष्ट करेगा। इसके विपरीत नारेबाजी के बिना लोग आपकी ओर ध्यान देंगे, इसकी सम्भावना कम है। खेद यही है कि नारेबाजी के बल पर प्राप्त किया हुआ साहित्यिक गौरव स्थायी नहीं होता। यही कारण है कि पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में हिन्दी में जहाँ दर्जनों प्रतिभाशाली लेखकों ने जोर-शोर से लिखना शुरू किया है, वहाँ प्रौढ़ परिणति की ओर बढ़ते बहुत कम दिखाई देते हैं। हिन्दी के अधिकांश लेखक पहली ख्याति पाते समय जिस सांस्कृतिक एवं रागात्मक धरातल पर होते हैं उससे ज्यादा आगे कम पहुँच पाते हैं। इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि हमारा सांस्कृतिक वातावरण गम्भीर साधना के लिए उपयुक्त नहीं है। हमारी समझ में इस वातावरण को उत्पन्न करने की ओर पहला कदम यह होगा कि हिन्दी-समीक्षा स्वयं अपने से अधिक सही एवं सतर्क, गहरे, ऊँचे तथा दूरगामी विश्लेषण और सन्तुलित मूल्यांकन की माँग करे। यह माँग जहाँ स्वयं समीक्षकों को सावधान और जागरूक बनायगी, वहाँ साधनशील लेखकों को भी आश्वस्त कर सकेगी। अवशिष्ट निबन्ध में हम ऐसी ही माँग का व्यावहारिक रूप पेश करेंगे।

२

प्रस्तुत लेखक ने अपने निबन्धों में जहाँ-तहाँ अनेक साहित्यकारों के सम्बन्ध में ऐसे निर्णय दिये हैं जो प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध पड़ते हैं। उदाहरण—(१) रवीन्द्रनाथ उच्चतम

कोटि के कवि नहीं हैं। उनका स्थान कालिदास से नीचे है, ठीक जैसे कालिदास का शेक्सपियर और वाल्मीकि से नीचे है। (२) छायावादियो का यह विचार कि उनका सांस्कृतिक स्तर रीति-कालीन कवियो से उच्चतर है, गलत है। (३) 'कामायनी' की अधिकाश प्रशंसा का कोई ठोस आधार नहीं है। (४) प्रेमचन्द मे धार्मिक-दार्शनिक अनुभूति की सिम्त (डाइमेन्शन) नही मिलती, अतः उनकी कला मे ऊँचाई नही है। (५) ल्यूकैक्स का यह (मार्क्सवादी) मन्तव्य कि कला सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन से समृद्ध बनती है दास्ताएव्स्की के महत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ है, इत्यादि।

मैं जानता हूँ कि हिन्दी के कई अच्छे आलोचक उक्त निर्णयों से सहमत नहीं हैं। किन्तु उनमें से किसी ने, अपने प्रिय लेखकों के मण्डल मे भी, मेरे मन्तव्यो की सूक्ष्म परीक्षा करने का कष्ट नहीं किया। ऐसी स्थिति में यदि उन लेखको के सम्बन्ध मे, मेरे या किसी दूसरे के द्वारा, गलत धारणाओ का प्रचार हो तो उसका दायित्व उक्त सीमक्षकों पर भी होगा। यह भी कहा जा सकता है कि मौन सम्मति का लक्षण है। शिकायत की बात यह है कि ऐसी स्थिति मे हिन्दी-पाठकों को यह पता नही चल पाता कि मेरी स्थापनाओ मे, विश्व-साहित्य के वस्तुपाती मूल्याकन की दृष्टि से, कहाँ कितनी सचाई या कमी है। मेरी दूसरी शिकायत यह है कि हिन्दी के आलोचक, विश्लेषणात्मक पद्धति से आलोचना प्रत्यालोचना अथवा बहस करके, मेरे चिन्तन को आगे बढाने में सहायक नहीं होते रहे हैं। इस दृष्टि से विरोध उतना ही लाभप्रद हो सकता है जितनी कि सन्तुलित स्वीकृति। केवल निन्दा या प्रशसा कोई अर्थ नही रखती।

अपने बारे मे इतना कहकर अब मैं दूसरों की चर्चा करूँ।

हिन्दी के प्रतिभाशाली तरुण लेखक श्री धर्मवीर भारती ने काफी पहले 'प्रतीक' मे दो लेख दिए थे, जिनका शीर्षक था—'आधुनिक विश्व-उपन्यास के नायकों मे पुरुस्त्वहीनता।' भारती की यह निश्चित धारणा है कि श्रेष्ठ उपन्यासो के नायकों को कर्मठ होना चाहिए। कर्मठ व्यक्ति वे होते है जो किसी चीज की प्राप्ति के लिए, किसी उद्देश्य की सफलता अथवा किसी प्रतिपक्षी पर विजय पाने के लिए, दत्तचित्त होकर प्रयत्न करते हैं। सक्षेप में, कर्मठ व्यक्ति सघर्षशील होते हैं और परिवेश की चुनौतियों का उत्तर निष्क्रिय भावुकता से नही वरन् क्रियात्मक रूप से देते हैं। भारती का विचार है कि आधुनिक विश्व-उपन्यासो के अधिकाश नायक इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। प्रस्तुत लेखक के प्रकाशित उपन्यास 'पथ की खोज' की काफी प्रशसा करते हुए भी, उन्होंने उसकी इस कमी का सकेत किया है। यहाँ प्रश्न उठता है—भारती ने अपनी इस कसौटी को कहाँ से अथवा किस प्रक्रिया से प्राप्त किया है? और वे उस कसौटी की उपादेयता को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं? उनके उल्लिखित निबन्ध से यह स्पष्ट है कि उन्हे आधुनिक विश्व-उपन्यास के अधिकाश नायकों के चित्रण से असन्तोष है। ऐसी दशा मे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपनी कसौटी आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यासों को पढकर प्राप्त की है। प्राचीन काल में तो ऐसे उपन्यासो का चलन ही नही था, अतः वहाँ से उक्त मानदण्ड के प्राप्त किये जाने का प्रश्न ही नही उठता। एक दूसरी तरह भी उक्त कसौटी की सत्यता सिद्ध की जा सकती है—यह दिखाने से कि कर्मठ नायकों वाले उपन्यास भिन्न कोटि के नायकों वाले उपन्यासो से आवश्यक रूप में श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु भारती ने अपनी कसौटी को उचित प्रमाणित करने का इनमें से कोई भी तरीका अख्तियार नहीं किया है, वे ऐसा मानकर चले हैं मानो उनकी कसौटी

एक स्वयसिद्ध सत्य हो।

किन्तु क्या सचमुच उक्त कसौटी ग्राह्य अथवा सत्य है ? क्या विश्व के श्रेष्ठ उपन्यास इस पैमाने को प्रामाणिकता का अवलम्ब देते हैं ? हमे इसमें सन्देह है। इसके विपरीत हमें लगता है कि श्रेष्ठ उपन्यासों के अधिकाश नायक विशेष कर्मठ नहीं होते। उदाहरण के लिए 'गोदान' का नायक होरी एक निरीह-सा व्यक्ति है, जब कि 'रगभूमि' के विनय एव सूरदास अपेक्षाकृत अधिक कर्मठ हैं, किन्तु फिर भी 'गोदान', 'रगभूमि' से श्रेष्ठतर उपन्यास समझा जाता है। इसी प्रकार गाल्सवर्दी के बृहत्काय उपन्यास 'फोर्साइट सागा' की नायिका एव उसका प्रेमी दोनों ही कर्मठ व्यक्ति नही है। 'अन्ना केरीनिना' का महत्त्वपूर्ण पात्र लेविन एक नितान्त अकर्मण्य व्यक्ति है। इसके विपरीत अन्ना का प्रेमी एक कर्मठ किन्तु महत्त्वशून्य पात्र है। एक प्रसिद्ध आलोचक के अनुसार तो वह टॉल्स्टाय का सबसे खराब चित्रित पात्र है। इसी प्रकार 'वार एण्ड पीस' का सबसे महत्त्वपूर्ण नायक पीयरे, नितान्त अनिश्चित एव अकर्मण्य मनोवृत्ति का व्यक्ति है। शेक्सपियर का हैमलेट तो प्रसिद्ध ही है। सच यह है कि गम्भीर मनोवैज्ञानिक एव नैतिक गुत्थियों से उलझने वाले आधुनिक उपन्यासो मे स्थूल रूप मे क्रियाशील नायको के लिए अवकाश नही है। वस्तुतः कर्मठ नायको के चित्रण का उपयुक्त माध्यम नाटक है, न कि उपन्यास। इस सम्बन्ध मे महाकवि गेटे ने कहा है —

In a novel it is pre-eminently mental attitudes and events that are to be presented, in the drama characters and deeds The novel should proceed slowly and the mental attitudes of the principal character in it should by whatever means available hold back the progress and development of the whole *the hero of the novel should be a sufferer, or at least not highly active,* of the dramatic hero one demands activity and deeds

अर्थात् उपन्यास मे मनोवृत्तियों का चित्रण प्रधान होता है, चरित्र और कर्म का नहीं। उपन्यास की गति धीमी होनी चाहिए। उपन्यास के नायक को मुख्यत. सहन करने वाला होना चाहिए, न कि कर्मण्य, इसके विपरीत नाटक के नायक से क्रियाशीलता एव कर्म की आशा की जाती है।

गेटे के इस उद्धरण को प्रसिद्ध आलोचक ल्यूकैक्स ने अपनी 'स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म' (पृष्ठ १७६-८०) में उद्धृत किया है, और प्राय. उसकी सत्यता को स्वीकार किया है। यहाँ पाठक याद रखें कि गेटे स्वय एक महत्त्वपूर्ण नाटककार है, और इस नाते कर्मठ पात्रो की सृष्टि का अभ्यस्त है।

सच यह है कि महाकाव्य, उपन्यास, नाटक आदि के पात्रों के सम्बन्ध में कोई ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता कि उन्हे विशिष्ट वर्ग अथवा स्वभाव का होना चाहिए। प्राचीन सस्कृत-काव्यों तथा नाटको के अधिकाश नायक राजा या अलौकिक पुरुष अथवा देवता हैं, उन्हें देखकर ही प्राचीन अलकार-शास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में कुछ नियम बनाए। हम जानते हैं अब वे नियम अर्थहीन हो गए हैं। और आज तो मानव-जीवन एव साहित्य में इतनी विविधता है कि इस तरह के नियामक सिद्धान्त बनाए ही नहीं जा सकते।

हमें आश्चर्य है कि भारती के प्रस्तावित पैमाने की अपर्याप्तता की ओर ध्यान दिलाने का कष्ट हिन्दी के किसी नये-पुराने समीक्षक ने अब तक नहीं किया। यह अजागरूकता अथवा

उदासीनता हमारे साहित्यिक विकास के लिए खतरनाक है।

: ३ :

प्रायः डेढ वर्ष पूर्व, साहित्यिक संघ काशी के अधिवेशन के अवसर पर, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने, जिनके व्यक्तित्व मे प्रस्तुत लेखक को विशेष आस्था और श्रद्धा है, एक मनोरजक किन्तु खटकने वाली बात कही थी—"जब हमारा आलोच्य ही महान् नही है, तो हमारी आलोचना कैसे महान् हो सकती है।" बात लोगो को जँची थी, किन्तु कभी-कभी अधूरे सत्य भी लोगों को जँचते हैं, जैसे स्वर्गीय जिन्ना का दो राष्ट्रों का सिद्धान्त। वक्तव्य का मतलब स्पष्ट है—'जी, हम तो अपना काम कर रहे हैं, कुसूर सब आपका (यानी लेखको का) है।' दूसरा अर्थ है—'हम अपना काम कैसे करते, जब उन्होने ही अपना काम नही किया।' इस अर्द्ध-सत्य से हिन्दी का आलोचक सन्तोष कर सकता है, पर वास्तव मे यह एक लचर तर्क है। काफी पहले एक अमरीकी आलोचक ने द्विवेदी जी से बिलकुल भिन्न बात कही थी .

'Before we can have an American literature, we must have an American criticism '[1]

अर्थात् 'इससे पहले कि हम श्रेष्ठ अमरीकी साहित्य उत्पन्न कर सके, हमे अमरीकी आलोचना की प्रतिष्ठा करनी होगी।' उसी लेखक का कहना था .

American critics are doing altogether the most original and aggressive work we can show to the world

एक दूसरे लेखक ने प्रायः पच्चीस वर्ष बाद इसी दावे को निम्न शब्दों मे दुहराया था :

The critical movement is undoubtedly the most significant movement in our literature during the last decade or so [2]

अर्थात् 'पिछले दशक मे, या उसके आस-पास, समीक्षात्मक आन्दोलन हमारे साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन रहा है।'

यह ठीक है कि ऐतिहासिक क्रम मे आलोचना का जन्म साहित्य के बाद होता है, लेकिन हिन्दी-आलोचना के जन्म या विकास के लिए यह आवश्यक नही कि आधुनिक हिन्दी मे पहले श्रेष्ठ साहित्य का प्रणयन हो। आज के आलोचक के सामने विश्व का समूचा साहित्य खुला हुआ है, जिसके अध्ययन से वह अपनी रस-सवेदना का शिक्षण और परिष्कार कर सकता है। विश्व मे आलोचना-साहित्य की भी कमी नही है।

मुझे प्रसन्नता होती यदि मै हिन्दी-समीक्षा के लिए कुछ अश तक भी वैसा दावा कर सकता जैसा कि उक्त लेखकों ने अमरीकी समीक्षा के लिए किया है। इसके विपरीत मेरा विचार है कि हिन्दी-आलोचना अपना कार्य काफी निचले स्तर पर नितान्त अव्यवस्थित, उलटे-पुलटे ढग से करती रही है। सच पूछिए तो हिन्दी-समीक्षा सृजनात्मक साहित्य का मार्ग प्रशस्त करने के बदले उसमें रुकावट और बाधाएँ डालती रही है। आज हिन्दी मे कितने आलोचक है जो नई (तथाकथित प्रयोगशील) कविता की समस्याओं को समझते हैं? मेरा अनुमान है कि इस दिशा में जो कुछ भी स्पष्टीकरण किया गया है वह स्वय लेखको अथवा कवियों द्वारा। इसका स्पष्ट मतलब यह है कि आज समीक्षा का कार्य भी मुख्यत. लेखको को ही करना पड़ रहा है, और

१. (Paul Elmer More, 1904)

२. (Vanwyck Brooks, 1928)

अधिकांश समीक्षक पुराने-नये मान्यता-प्राप्त साहित्यकारों पर पुस्तकें लिखकर विद्यार्थियों का उपकार कर रहे हैं।

सच यह है कि अधिकाश हिन्दी-समीक्षकों में न तो विश्व-साहित्य पढने का चाव है, न सुलझा हुआ मौलिक चिन्तन करने की क्षमता। दुर्भाग्य यह है कि ऐसी स्थिति में भी वे बेचारे लेखकों पर रौब जमाने की लालसा से बाज नही आते।

४ ·

समीक्षा-पद्धति मे इस क्रिया को एक कला के रूप मे अनुष्ठित करने वालो मे बिहार के श्री नलिनविलोचन शर्मा का नाम सर्वप्रथम लिया जाना चाहिए। विश्व-साहित्य का अध्ययन एक धैर्य एव श्रमसाध्य काम है, बढिया चिन्तन और आलोचना कर सकना प्रतिभा तथा साधना दोनों ही की अपेक्षा रखता है। इन चीजो के न्यूनाधिक अभाव मे भी एक लेखक की समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण कहला सकती हैं, कम-से-कम वर्तमान हिन्दी मे, इसका प्रत्यक्ष एव विपुल प्रमाण उक्त लेखक को समीक्षाएँ है। शर्मा जी समीक्षक हैं, कहानीकार है, और नकेनवाद के आद्य-प्रवर्तक कवि भी है। समीक्षक के रूप मे नलिन जी का एक सग्रह 'दृष्टिकोण' निकला था, जिसकी प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक निबन्ध मे और कही-कही, एक पृष्ठ पर दर्जनो लेखकों-चित्रकारों आदि के नाम पढने को मिल सकेंगे। खेद यही है कि विचारशील पाठक 'क्लासिक्स' के नामरूपात्मक परिचय से प्रभावित न होकर उनके अन्तरग अध्ययन से विकसित प्रौढ सवेदना की तलाश करते हैं। 'प्राची' (जून, १६५२) मे प्रकाशित एक इण्टरव्यू मे (और इण्टरव्यू बड़े ही लेखकों का लिया जाता है।) नलिन जी ने स्पष्ट बतलाया है कि उनका, स्कूल के दिनो से ही, हिन्दी-सस्कृत-अंग्रेजी पर अच्छा अधिकार रहा है—वे उन्हे लिख-बोल सकते रहे है, और तभी से हिन्दी तथा अंग्रेजी मे पद्य, कहानी आदि भी लिखते रहे हैं। ये सब रोचक बातें है, और प्रभावित करने वाली भी। आगे हम उक्त प्रतिभा का व्यावहारिक रूप देखेंगे नलिन जी किस प्रकार मौलिक ढग से तर्क करते हैं इसका एक नमूना देखिए :

"हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप मे क्यों राजकीय स्वीकृति मिलनी चाहिए थी, इसके लिए अनेक तर्क उपस्थित किये गए जो तर्क सर्वथा अकाट्य था उसे किसी हिन्दी-प्रेमी ने कभी गर्व के साथ उपस्थित किया इसका ज्ञान इन पक्तियो के लेखक को नही है। भारत को सभी आधुनिक भाषाओं के जीवित कवियो मे एक मात्र हिन्दी को ही 'निराला' का दावा करने का सौभाग्य है।" इत्यादि।

क्या उक्त तर्क से अच्छा यह तर्क नहीं है कि "एक-मात्र बँगला को ही रवीन्द्र तथा शरद का दावा करने का सौभाग्य है इसलिए" इत्यादि ?

लेकिन मेरा अनुरोध दूसरा है, पाठक उक्त वाक्यावली की आन्तरिक ध्वनि पर ध्यान दे— "इसका ज्ञान इन पक्तियो के लेखक को नही है।" नलिन जी एकदम एक मौलिक बात कर रहे हैं।

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' के प्रकाशित होने से पूर्व ही भविष्यद्वक्ता नलिन जी ने लिखा था : " 'नदी के द्वीप' के बारे में हम आशान्वित भी हैं और सशक भी। सशक विशेष रूप मे इसलिए कि उनके सम्पादन में प्रकाशित होने वाले 'प्रतीक' में 'बारहखम्भा' का बचपना चल रहा है।"[1] बाद में 'नदी के द्वीप' की समीक्षा करते हुए उन्होंने जो एक-मात्र

1. दृष्टिकोण, सितम्बर, १६५१

और सबसे मौलिक बात उस उपन्यास के बारे में भूमिका पूर्वक कही, वह यह थी कि उपन्यास का नायक भुवन और कोई नहीं शेखर ही है—स्वय 'अज्ञेय' है। यदि इतने मात्र से पाठक की जिज्ञासा और विश्लेषणात्मक समीक्षा की भूख न मिटे—यदि वह यह कहे कि समीक्षक ने एक जासूस का काम किया है, स्वयं अपना नही—तो सम्भवतः यह उसी का दोष होगा, नलिनविलोचन शर्मा का नहीं।

यह आश्चर्य की बात है कि 'नदी के द्वीप' (और 'पथ की खोज' पर भी) इस प्रकार आक्रामक टिप्पणियाँ करने के बाद वे 'प्राची' वाले इएटरव्यू मे कहते हैं : "आधुनिक हिन्दी-साहित्य किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य से कही अधिक बढ़ा-चढा और गतिशील है—बंगला से भी अधिक" आपने इस सम्बन्ध मे अपनी हाल की पढी हुई बगला के 'कालिन्दी' को हिन्दी के 'पथ की खोज' या 'नदी के द्वीप' से स्पष्टतया निम्न कोटि का बतलाया।'

इसे हिन्दी का अनर्गल प्रेम कहा जाय या समीक्षात्मक असन्तुलन ? यह मानते हुए भी कि निराला जी एक श्रेष्ठ कवि हैं हम उक्त सम्मति को विशेष अतिरजनापूर्ण मानते है। नलिन जी शायद समझते हैं कि आलोचक जिस लेखक को जितना चाहे ऊँचा उठा सकता अथवा नीचे गिरा सकता है। यह भयकर भ्रान्ति है। ऐसी सम्मतियाँ प्रकट करने से आलोचक स्वय अपने को हल्का बनाता है। श्रेष्ठ आलोचक केवल सम्मति ही नहीं देता, वह अपनी बात को, विश्लेषण द्वारा, पाठको के मन मे उतार देता है। नलिन जी को शिकायत है हिन्दी वालों ने निराला का समुचित आदर नही किया। इसका ठीक प्रतिकार यही है कि वे स्वय निराला पर पुस्तक लिखकर उनकी महत्ता को विश्लेषित और प्रमाणित करें। अच्छा हो यदि वे ऐसी पुस्तक अंग्रेजी मे लिखें, और विश्व के साहित्य प्रेमियो के समक्ष निराला के महत्त्व का दावा तथा घोषणा करे। ऐसे प्रयत्न के अभाव मे उनकी लम्बी-चौड़ी बातो का एक यही अर्थ हो सकता है कि वे अर्ध-शिक्षित पाठकों पर अपनी समीक्षा-बुद्धि की मौलिकता का रौब जमाना चाहते हैं।

किसी भी हिन्दी-प्रेमी लेखक के लिए ऐसे असन्तुलित वक्तव्य सुनकर मौन रह जाना लज्जा की बात है। यदि हम हिन्दी-आलोचना तथा साहित्य को एक ऊँचे स्तर पर प्रतिष्ठित होते देखना चाहते हैं तो हमे इसका ध्यान रखना होगा कि हमारे लेखक ऐसी गैर जिम्मेदारी की बातें न करे।

५

हिन्दी-समीक्षा में एक-मात्र जागरूक वर्ग प्रगतिवादियो का है। किन्तु उनकी जागरूकता राजनीतिक अधिक है, साहित्यिक कम। यही कारण है कि हमे प्रगतिवादी समीक्षा मे रसग्राहिता की अपेक्षा कट्टरता का ही अधिक प्रमाण मिलता है। किसी भी साहित्यिक वाद को मान लेने भर से कोई व्यक्ति समीक्षक नहीं बन जाता। समीक्षक होने से पहले किसी लेखक का एक रसज्ञ पाठक होना जरूरी है। साम्प्रदायिक आलोचक इस तथ्य को समझते-स्वीकार करते नही दीखते। 'नदी के द्वीप' एक खास साहित्यिक सिद्धान्त के कठघरे में फिट नहीं होता, इसलिए श्री शिवदान-सिंह चौहान को उसमें कोई भी अच्छाई दिखाई नहीं देती। किन्तु उस दशा में उन्हें यह सन्देह भी हो सकता है—होना चाहिए—कि उनकी रसग्राहिता में कोई गहरी कमी है।

इधर प्रगतिवादी समीक्षक 'यथार्थवाद' और 'प्रकृतवाद' के भेद पर गौरव देने लगे

हैं। कभी-कभी तो सन्देह होता है कि हिन्दी के समीक्षक इनके अन्तर को समझते भी हैं। उदाहरण के लिए श्री गोपालकृष्ण कौल ने 'आजकल' के एक अंक (फर्वरी, १९५२) में एक लेख में निम्न मनोरंजक वाक्य लिखा है : "प्रकृतवाद यदि सागर की लहरों का रूपांकन करता है तो वास्तववाद सागर की अतलस्पर्शी गहराई को स्पर्श करता है।" हमारा अनुमान है कि उक्त भेद-निरूपण मार्क्सवादी साहित्यिक मान्यताओं से भिन्न है। यथार्थवादी साहित्य वह है जो सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करे। इस दृष्टि से 'मेघदूत' यथार्थवादी नहीं, प्रकृतिवादी काव्य है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार 'मेघदूत' (तथा रवीन्द्र का काव्य) श्रेष्ठ साहित्य नहीं हो सकता।

हम कुछ और कहना चाहते हैं—साहित्यिक सिद्धान्त-सूत्रों का यन्त्रवत् प्रयोग सम्भव नहीं है। किसी भी सूत्र को हृदयंगम करने के लिए अध्ययन और साधना की अपेक्षा होती है। 'सामाजिकता' के सूत्र से परिचित होते हुए भी यह सम्भव है कि प्रगतिवादी समीक्षक किसी कृति के सामाजिक पहलू को देख और पकड़ ही न सके। सामाजिकता के पैमाने को ल्यूकैक्स ने भली भाँति आत्मसात् किया है—अपने अध्ययन के क्षणों में उसकी सत्यता का अनुभव किया है—इसीलिए वह 'स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज़्म'-जैसी सुन्दर पुस्तक लिख सका है। इस तथ्य को समझे बिना प्रगतिवादी समीक्षक हिन्दी को कभी भी वैसी पुस्तकें नहीं दे सकेंगे। इसके विपरीत पाठकों, लेखकों तथा स्वयं अपने को विभ्रम में डालते हुए वे हिन्दी-साहित्य का स्तर गिराकर उसका अहित ही करेंगे।

डॉ० एस० पी० खत्री

अँग्रेज़ी काव्य-धारा : बीसवीं शताब्दी

१

अँग्रेजी साहित्य की आधुनिक कविता का पूर्णरूपेण अध्ययन तथा उसका साहित्यिक विवेचन तभी सम्भव तथा फलप्रद होगा जब हम कुछ ऐसे सिद्धान्तो को हृदयगम कर लें जो साहित्य की रूपरेखा बनाने-बिगाडने मे आज से नही वरन् प्राचीन युग से कार्य-रत है, क्योंकि इन्हीं सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि में हमे अँग्रेज जाति के राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण उल्लेख मिलेगा जहाँ समय की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नवीन साहित्य तथा नई कविता का जन्म हुआ और जिसका उत्तरोत्तर विकास होता चला आ रहा है। अँग्रेजी साहित्य के सभी विचारक प्रायः इसी विचार से सम्मत हैं कि किसी भी युग का साहित्य अपने पुराने युग के साहित्य से सन्तुष्ट नही रहा।

जब उन्नीसवीं शती का साहित्य अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था उसी समय साहित्यिक चेतना ने पुनः पलटा खाया और बीसवी शती के प्रथम चरण मे ही वह साहित्य हीन, निकृष्ट तथा निरर्थक प्रमाणित कर दिया गया। आज तिरपन वर्ष का साहित्य प्राचीन परम्पराओ का शत्रु है और इस प्रयत्न मे दत्तचित्त है कि नव निर्मित साहित्य मे इतनी शक्ति, इतनी प्रगल्भता, इतनी कला तथा इतनी शालीनता ले आई जाय, जो साहित्य की अमर विभूति बन जाय। समय की प्रतिक्रिया ने ही नई कविता को जन्म दिया है।

किन्तु आधुनिक युग के पाठकवर्ग की सबसे बडी कठिनाई यह है कि वह अनेक रूप मे उन्नीसवीं शती के साहित्यादर्शों का दास है। जो श्रेष्ठ साहित्य-सिद्धान्त रोमान्स युग तथा उन्नीसवी शती मे निर्मित हुए उनकी मर्यादा ने हमारे मानस के अधिकाश मे अपना घर बना लिया है और जिस प्रकार सिन्दबाद जहाजी के कन्धे पर एक बूढा व्यक्ति सदैव सवार रहा करता था और उसके स्वतन्त्र क्रिया-कलाप मे बाधा प्रस्तुत करता था उसी प्रकार आज का पाठक और आधुनिक आलोचक प्राचीन रूढि का बोझ वहन कर रहा है। साधारणत कभी-कभी हमे यह भी आभास मिलेगा कि वह इस बोझ को दु:खदायी भी समझ रहा है परन्तु इस वर्ग के अधिकाश लोग यह बोझ उतार फेंकने को तत्पर नहीं।

चूँकि आधुनिक अंग्रेजी-काव्य का जन्म उन्नीसवीं शती के विरुद्ध मानसिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही हुआ है अतः उसकी रूपरेखा का पूर्ण ज्ञान तथा उसमें निहित काव्य-रस का रसास्वादन तभी सम्भव होगा जब इस प्रतिक्रिया के मूल आधारो को भली भाँति हृदयगम कर लिया जाय। इग्लिस्तान का उन्नीसवी शती का साहित्य उस शताब्दी के सम्पूर्ण जीवन का पूर्ण परिचायक है। इस समय इग्लिस्तान का राष्ट्रीय, सामाजिक, औद्योगिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक जीवन अपनी पराकाष्ठा पर था। करीब-करीब आधी दुनिया पर अंग्रेजी साम्राज्य का ध्वज-वन्दन होता था और यह एक लोकोक्ति-सी हो गई थी कि अंग्रेजी साम्राज्य पर सूर्यास्त नहीं

होता। ऐसी परिस्थिति में राज्यमहिषी को देवी-तुल्य कौन नहीं समझता? ईश्वर की सत्ता पर कौन विश्वास नहीं करता?

उद्योग ने अर्थ को जन्म दिया और अर्थ ने श्रद्धा तथा सन्तोष की मर्यादा स्थापित की। इस युग के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा समय आया हो जब इंग्लिस्तान के गिर्जाघरों में तुमुल नाद से भगवद्-भक्ति हुई हो। आर्थिक सम्पन्नता ने आध्यात्मिक तुष्टि का प्रसार किया और अंग्रेजी समाज पूर्णतः सुख-सौख्य की लोरियों को सुनता हुआ जीवन-यापन करने लगा। अंग्रेजी काव्य राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवादिता, देश-प्रेम तथा परिवार-प्रेम, सन्तोष तथा श्रद्धा, भावुकता तथा भावावेश, गर्व तथा अभिमान, धर्म तथा विश्वास, सौन्दर्य तथा चन्द्रिका का गुण-गान कर रहा था। परन्तु कभी-कभी मेघ-विहीन आकाश से भी वज्र-शलाका गिरी है, अंग्रेजी जाति इस अनुभव से अनभिज्ञ थी। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में ही वज्र की शलाका अंग्रेजी जीवनाकाश में कड़की, गिरी और श्रद्धा तथा सन्तोष के ललित वितान धराशायी हो गए: चारों ओर विज्ञान की लपटें प्रज्वलित होने लगीं और उसी प्रज्वलित अग्नि-शिखा की ज्योति में मनुष्य को यह ज्ञात हुआ कि वह ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं, वह पञ्च तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विकास-वाद का एक रूप-मात्र है। उसके निकट पूर्वज वानर वृन्द हैं।[1] ईश्वर उसके जन्मजात भय का प्रतीक-मात्र है। स्वर्ग और नर्क का न तो वह स्रष्टा है, और न उसका कोई अस्तित्व ही है। जीवन-शक्ति, विकासवाद का सिद्धान्त मानती हुई महा मानव के अवतरण के लिए, पञ्च तत्वों की समिधा लिए, महायज्ञ कर रही है।[2] जहाँ विज्ञान ने आधुनिक मनुष्य को तीसरा नेत्र प्रदान किया वहाँ नवीन समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों ने साम्राज्यवादी सिद्धान्तों के खोखलेपन पर कुठारा-घात आरम्भ किया और प्राचीन राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक संगठन छिन्न-भिन्न होने लगे।[3] पूँजी और पूँजीवाद के संरक्षक और प्रचारक साम्यवादी तर्क के सम्मुख निष्प्रभ से हो गए और सामाजिक आदर्शों में एक महान् क्रान्ति का जन्म हुआ जिसके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता तथा निर्णायक प्रमाणित किया गया। औद्योगिक उन्नति ने साम्यवादी आदर्शों की पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार कर रखी थी। समाज का मध्यवर्ग धीरे-धीरे अपनी महत्ता खोने लगा और नरम दल के आदर्शों की छत्र-छाया में अपने कल्याण-मार्ग सुरक्षित करने लगा। श्रमिकवर्ग की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी और वे समाज के महत्त्वपूर्ण अंग समझे जाने लगे। इसी वर्ग तथा इसके उन्नायकों ने पदार्थवाद की दुन्दुभि बजाई जिसके तुमुल नाद के सम्मुख अन्य छोटी-छोटी चिन्तन-धाराएँ अपनी वाणी खो बैठीं। श्रमिकवर्ग की वृद्धि के साथ-साथ भूख तथा गरीबी के प्रश्न साकार होने लगे, मध्ययुगीन समाज-शास्त्र पर से श्रद्धा हटने लगी, ईश्वर को तो देश-निकाला मिल ही चुका था, देवालय भी सूने हो गए, सन्तोष और श्रद्धा अंग्रेजी जीवन से सदा के लिए (?) विदा हो गए। राष्ट्रीय[4] तथा सामाजिक रूढ़ियाँ अपनी अन्तिम साँस लेने

---

१ डार्विन—'ऑरिजिन ऑन स्पीसीज़; डिसेण्ट ऑव मैन। २. बर्नर्ड शॉ। ३ कार्ल मार्क्स।
४. बीसवीं शती के प्रथम चरण में छेड़े हुए साम्राज्यवादी 'बोअर युद्ध' ने यद्यपि राष्ट्रीय आदर्शों को थोड़ा-बहुत सँभाला तो अवश्य परन्तु उसकी प्रतिक्रिया इतनी तीव्र तथा व्यापक हुई कि उसका प्रभाव इंग्लिस्तान के सामाजिक जीवन पर ही नहीं, वरन् भारत के राजनीतिक जीवन पर भी गहरे रूप में पड़ा। अंग्रेज़ जाति के राजनीतिक प्रपंच के प्रति गांधीजी की अश्रद्धा का बीजारोपण यहीं से होता है।

लगीं। इतने में ही यूरोपीय आकाश पर युद्ध के बादल घिरने लगे और बीसवीं शती के चौदहवें वर्ष के अन्त मे होते-होते वज्र की शलाका पुनः युद्ध-रूप में अंग्रेजी समाज पर गिरी और पूरे चार वर्ष तक खन्दकों की कीचड़ में खड़ी-खड़ी अंग्रेजी सेनाएँ माँस के लोथड़ों में परिवर्तित होती गईं। मृत्यु की विभीषिका ने मनुष्य के रहे-सहे सभी सहारे छीन लिये। उन्होंने राष्ट्रीयता की ओट में पूँजीवाद की लोलुपता; देश-भक्ति की ओट में नरमेध तथा राजनीतिज्ञों के गगन-भेदी नारों की ओट में छल तथा प्रपंच, ईर्ष्या तथा दम्भ का नग्न नृत्य देखा। बाह्य जगत् की विभीषिका तथा मरीचिका से मानव निराश तथा हतभाग्य हो गया। परन्तु मृत्यु का दर्शन मनुष्य को दर्शनज्ञ बना देता है, निर्जीव शरीर की ठण्डी सिहरन मानव-मस्तिष्क में आग लगा देती है। अतः जीवन और मृत्यु-सम्बन्धी सभी समस्याएँ दल-बादल समेत मानव-मस्तिष्क तथा मानव-हृदय को त्रस्त करने लगीं। बीसवीं शती का मनुष्य इन्हीं त्रासों द्वारा त्रस्त रहने लगा। जिस प्रकार मृत्यु का आलिंगन पाते ही मनुष्य की आँखें पलट जाती हैं उसी प्रकार बीसवीं शती के मनुष्य ने अपनी पार्थिव मृत्यु देखकर अपनी आँखें अपने अन्तरतम की ओर पलट दीं। दोनों ही नवीन संकेत के परिचायक हैं।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के साथ-साथ बीसवीं शती के अंग्रेजी समाज की मानसिक अव्यवस्था की समाप्ति नहीं हुई अपितु यह अव्यवस्था बढ़ती ही गई। यद्यपि इस बात का भी प्रयत्न किया गया कि समाज की खोई हुई थाती लौट आय और मनुष्य पुन. सन्तोष और श्रद्धा-पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे, परन्तु 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' युद्ध इसलिए छेड़ा गया था कि युद्ध सदा के लिए समाप्त हो जाय, परन्तु हुआ उसका उलटा। वर्साई की सन्धि अलेक्जाण्डर तथा पोरस की सन्धि न थी। विजेताओं ने विजितों को पंगु बनाने की चेष्टा की, उनकी सदियों की धरोहर को लूटने का प्रयत्न किया, उनके राष्ट्रीय गर्व को चूरकर उन्हें बिना पंख के पक्षी के समान देश की सीमा को और भी छोटा करके उसमें बन्दी बना दिया। विजित राष्ट्र क्रोध और प्रतिशोध की अग्नि मे तपने लगा। यूरोप के एक छोर पर जहाँ क्रोध और प्रतिशोध की भावना जोर मार रही थी और जो पन्द्रह वर्ष तक राष्ट्र की छाती मे छिपी रही, वहाँ दूसरे छोर पर रूस में क्रान्ति की बाढ़ आई और महान् जार की अन्त्येष्टि क्रिया करने वाला कोई राजवंश का व्यक्ति जीवित न रह सका। रूस मे साम्यवाद की स्थापना हुई और श्रमिकवर्ग नूतन विहान का नवीन स्वप्न देखने लगा। श्रमिकवर्ग समाज का श्रेष्ठ केन्द्र बन ही चुका था और यह आशा की जाने लगी कि समस्त संसार मे श्रमिकवर्ग अपनी आवाज ऊँची करेगा, संसार को एक-सूत्र में बाँधेगा और एक महान् श्रमिक-राज्य की स्थापना होगी जहाँ न तो गरीबी होगी, न भूख सतायगी और न बेकारी होगी। समस्त संसार मे शान्ति का साम्राज्य होगा: जीवन में सदा दिवाली ही रहेगी। यह स्वप्न देखा ही जा रहा था कि पुन. यूरोपीय आकाश पर युद्ध के बादल मडराने लगे और नरम दल के बहुत कुछ बहलावे पाने के उपरान्त भी जर्मन जाति ने अपनी प्रतिशोध की भावना शान्त न की और उन्होंने एक महान् जर्मन साम्राज्य की स्थापना की आशा में नरमेध का शखोच्चार कर ही तो दिया। प्रजातन्त्र तथा नाजीवाद घमासान युद्ध में संलग्न हुए और कुछ ही दिनों बाद साम्यवाद ने नाजीवाद की चुनौती स्वीकार करके अपनी सेनाओं की बाढ़ चला दी। यूरोप प्रायः आठ वर्ष तक, मानव के इस महायज्ञ का हवन-कुण्ड बना रहा और जिसकी पूर्णाहुति नागासाकी तथा हिरोशिमा में अणु-बम द्वारा की गई। इस महायुद्ध की समाप्ति

होते ही मित्र-राष्ट्रों की मैत्री भी समाप्त हो गई। मैत्री भय में परिणत हुई और भय ने सभी राष्ट्रों के बीच एक गहरी खाई खोद दी। और आज का यूरोप पुनः एक ऐसे युद्ध की कल्पना कर रहा है जिसका अन्त शायद प्रलय रूप में ही होगा।

: २ ·

अंग्रेजी समाज तथा उससे सम्बन्धित अन्यान्य यूरोपीय घटनाओं की उपरोक्त संक्षिप्त समीक्षा के उपरान्त यह कहना शेष है कि इस विचित्र वातावरण में किस प्रकार की काव्य-रचना सम्भव हुई और उसके गुण-विशेष क्या हैं तथा अन्यान्य वादों के जन्म का कारण क्या है?

साधारणतः ऐसा देखा गया है कि जब व्यक्ति प्रस्तुत प्रश्नों का हल ढूँढ नहीं पाता, जब युग के आग्रह को वह अपना नहीं पाता और जब अपने को शिथिल एवं निरूपाय समझने लगता है तो वह अपने मनबहलाव के अन्य साधन जुटाने में एकाग्रचित्त हो जाता है। इसी अनुभव के अन्तर्गत, उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में, कुछ लेखकों ने अपनी एक अलग गोष्ठी[1] बनाई और सौन्दर्य-साधना में संलग्न हो गए। इस साधना के प्रवर्तक फ्रांस में थे फलतः इंगलिस्तान में इसकी मान्यता कुछ श्रेष्ठ वर्गों तक ही सीमित रही और उन्होंने 'कला, कला के लिए' है नामक सिद्धान्त का व्यापक प्रचार करना चाहा। इस सिद्धान्त के विधाताओं तथा समर्थकों ने काव्य के वस्तु-तत्त्व को अत्यन्त गौण स्थान दिया, समाज तथा पाठकवर्ग को भी कोई महत्त्व नहीं दिया और केवल आनन्द के क्षणों की व्यक्तिगत अनुभूति में ही काव्य तथा कलाकार की सफलता देखी। जिस प्रकार नदी में बाढ़ आने पर छोटे-मोटे फेन-पुञ्ज इधर-उधर किनारे पर तैरा करते हैं उसी प्रकार युग के आग्रह से दूर ये सौन्दर्य-साधक अपनी आनन्ददायी सौन्दर्य-वाटिका सुसज्जित करने में व्यस्त रहे। इस साहित्यिक गोष्ठी के समान काव्य की प्रेरणा पाए हुए कुछ श्रेष्ठ कवि अपनी कविताएँ स्वतन्त्र रूप में लिख रहे थे और उनकी कविता पर आधुनिकता की छाप बहुत-कुछ है। किसी[2] ने बीसवीं शती के विफल मानव को करुण स्वरों में पुकारा और उन्होंने मनुष्य के साथ दुर्भाग्य तथा क्रूर भाग्य के खिलवाड़ के नग्न-चित्र खींचे, कुछ[3] ने तत्कालीन अंग्रेजी समाज की दुविधा, उसके मानसिक संशय तथा भय को काव्य-नाटिकाओं में वर्णित किया, किसी[4] ने पुनः सौन्दर्य की ओर दृष्टि उठाई और सौन्दर्य के तत्त्व और उसकी आत्मा को परखने का प्रयत्न किया, और किसी[5] ने दारुण दुःख सहते हुए प्राणी में मानवीय गौरव के दर्शन किये और साश्रु-नेत्रों का बोझ सँभाले जीवन-पथ पर अडिग मानव की प्रशंसा की · दारिद्र्य और दुःख में पनपता हुआ मानव किस की श्रद्धा का पात्र नहीं होगा? ऐसे ही मानव की श्रेष्ठता आधुनिक कवि स्वीकार करता है।

इन अनेक कवियों की फुटकल रचनाओं में यद्यपि हमें आधुनिकता के दर्शन होते तो हैं परन्तु हम उन्हें पूर्णतः आधुनिक नहीं कह सकेंगे। इन्हें हम किसी एक वर्ग के अन्तर्गत रख भी नहीं सकते, और न किसी एक सामूहिक नाम से पुकार ही सकते हैं। परन्तु आधुनिक युग में कुछ कवि ऐसे भी हुए जिन्हें सामूहिक नाम दिया भी गया और उनकी रचनाओं में समानता भी बहुत कुछ मिलेगी। पंचम जार्ज के समकालीन कवि एक ऐसे वर्ग[5] के अन्तर्गत आते हैं जिनमें व्यापक समानता है। यद्यपि इनका उद्देश्य उन्नीसवीं शती की परम्पराओं का बहिष्कार तथा नवीन

---

१. द ईस्थेटिक मूवमेण्ट : फ्लाबेयर, ह्विसलर, पेटर, वाइल्ड, साइमन्स। २. टॉमस हार्डी ३. डाउटी ४. रॉबर्ट ब्रिजेज़। ५ हाउस २. द जॉर्जियन मूवमेण्ट।

कविता का बीजारोपण था परन्तु ये अपने उद्देश्य मे सफल नही हुए। उन्होंने धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक विषयों पर प्रतिबन्ध लगाया और साम्राज्यवादिता से कुछ अश तक विमुख रहे परन्तु वे पूर्णरूपेण आधुनिक होने से भय खाते रहे। उन्होंने प्रकृति के सौन्दर्य की सराहना की और प्रेम की मधुरता घोषित की, शैशवावस्था की ओर वे अपलक निहारने लगे तथा सन्तोष-धन को ही जीवन का महान सुख समझने लगे थे। इन कवियो में उन्नीसवीं शती की आत्मा पुनः साकार होने का विफल प्रयत्न करती हुई दिखाई देती है, उनकी शैली मे प्राचीन रूढि तथा उनके शब्द-चयन मे उसी लालित्य के दर्शन होंगे जिसे देखते-देखते आधुनिक व्यक्ति थक गया था।

जैसा कि हम सिद्धान्त रूप मे स्पष्ट कर चुके हैं—पचम जार्ज के समकालीन कवियो के साहित्यिक दृष्टिकोण, विषय-चयन, शैली, भाषा इत्यादि के विरुद्ध प्रतिक्रिया समय के कुछ पहले ही आरम्भ हो गई। कारण स्पष्ट है, प्यासा व्यक्ति घूँट-घूँट पानी नही पीना चाहता। यद्यपि दो-एक कवियो ने अपने काव्य के अधिकाश में आधुनिकता को प्रश्रय दिया परन्तु व्यापक अरुचि के सम्मुख वे भी लोकप्रिय न हो सके। इस वर्ग के विरोध मे जो कवि आगे आए और जिन्होंने नवीन काव्य को जन्म दिया उन्होने 'मूर्तवाद'[1] की स्थापना की। इस 'वाद' का श्रीगणेश उन्नीस सौ आठ ईसवी के लगभग हुआ और लगभग दस वर्ष के विकास के उपरान्त उसकी इतिश्री भी हो गई। मूर्तवाद नई कविता का प्रथम चरण कहलायगा। इसी 'वाद' ने रोमाचकवादी काव्य के विषय, भाषा, शैली इत्यादि का बहिष्कार किया और काव्य-क्षेत्र मे नव विहान की झाँकी दिखलाने का प्रयास किया। उन्होने विज्ञान तथा उसकी विश्लेषक शक्ति को अपनाया, नये विचारो तथा नूतन आधारो को प्रतिष्ठित किया, नवीन आविष्कारो की महत्ता को घोषित किया और रूढि तथा परम्परा को प्रगति तथा उन्नति मे बाधक प्रमाणित किया। तर्क और अनुभव ने विश्वास तथा श्रद्धा का स्थान ले लिया, निरीक्षण तथा विश्लेषण ने रूढि तथा परम्परा को पद-च्युत कर दिया। ऐसी मानसिक पृष्टभूमि के सहारे ही नई कविता का बीजारोपण सम्भव हुआ।

मूर्तवादियो का विचार था कि किसी भी कविता मे काव्य-श्री तथा कवि की प्रतिभा दो ही चार पक्तियो मे प्रकाश पाती है, शेष कविता केवल अनावश्यक अथवा अर्थहीन ही रहती है। किसी भी युग की लम्बी कविता पढने के उपरान्त यह विचार सहज ही स्पष्ट हो जायगा। फलत. यदि कवि दो चार पक्तियों की कविता मे काव्य की आत्मा को मूर्त्त कर सकता है तो वह कवि सफल है, श्रेष्ठ है। उनका यह भी विचार था कि जब हम कोई दृश्य देखते हैं अथवा कुछ अनुभव करते है तो उस दृश्य अथवा अनुभव के कुछ विशिष्ट अग अथवा तीक्ष्ण क्षण ही हमारी आँखों के सम्मुख साकार होते है और यदि कवि इन्हे शब्द-रूप, एव मूर्त्त-रूप दे सकता है तो वह काव्य उच्चकोटि का होगा। पारिभाषिक रूप मे मानसिक अनुभूतियो अथवा जटिल मनोवेगों के मूर्त्त रूप ही मे श्रेष्ठ काव्य की झलक मिलेगी और हो सकता है कि श्रेष्ठ कविता के लिए दो-चार पक्तियाँ भी आवश्यक न हो और केवल दो-एक शब्द जो काव्य की आत्मा प्रस्फुटित कर सकें कविता के लिए पर्याप्त होंगे। जिस प्रकार आकाश में प्रज्वलित उल्का आस-पास का आकाश-क्षेत्र ज्योतिर्मय कर देती है और अनन्त मे विलीन हो जाती है उसी प्रकार मूर्तवादी कविता हमारे दो एक अनुभव ज्योतिर्मय करके, अनेक सहयोगी भावनाओं की झाँकी दिखलाकर हमारे मानस में विलीन हो जायगी।

---

१ इमेजिज़्म

वास्तव में 'मूर्तवादी' कविता, उन्नीसवीं शती की लम्बी वर्णनात्मक तथा नैतिक कविताओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप लिखी गई और बहुत-कुछ अंश में उनकी शब्दावली उन्नीसवीं शती के कवियों की ही शब्दावली थी जिनके द्वारा वे अपनी मधुर कल्पना को रुचिकर रूप दिया करते थे। इस दृष्टि से मूर्तवादी कलाकार मौलिक न थे, उन्होंने प्रतीकवादियों[1] की ही विचार धारा बहुत कुछ अंश में अपनाई थी और उन्हीं से बहुत कुछ अंशों में प्रेरणा भी ग्रहण की। प्रतीकवाद कुछ सुलभ प्रतीकों द्वारा जीवनानुभव पाठक-वर्ग तक पहुँचाता है और यह सिद्धान्त रूप में मानता है कि स्पष्ट अथवा व्यक्त रूप में वर्णित अनुभव न तो आकर्षक होता है और न वह पाठक के मानस में अपना घर ही बना पाता है। इसके विपरीत सांकेतिक अथवा अव्यक्त रूप में प्रदर्शित अनुभव अत्यन्त हृदयग्राही होता है, उसके द्वारा अनेक सहयोगी अनुभवों का कोष खुल जाता है और हमारी स्मृति-चेतना उन्हें स्मरण करते हुए एक विचित्र प्रकार के आनन्द का अनुभव करती है। इस प्रयोग में कवि को ऐसे शब्दों का चयन करना चाहिए जो अनेक मनोवेगों का कोष खोल दे और अनेक पूर्व अनुभवों की प्रतिध्वनि प्रस्तुत करते चलें। प्रतीकवाद का मूल आधार, फलतः शब्द-शक्ति ही रहेगा। जिस प्रकार संगीत केवल नाद की मधुरता से अभीष्ट-सिद्धि कर लेता है उसी प्रकार प्रतीकवाद की यह चेष्टा रहती है कि शब्दों को अर्थ के स्तर से इतना ऊँचा उठा दिया जाय कि उनका यह पार्थिव उत्तरदायित्व हट जाय और वे अपने विशुद्ध रूप में नाद-समान ही भावों का सञ्चार करते रहें। संकेत ही काव्य का प्राणरूप है और जो शब्द ये संकेत जितने व्यापक रूप में दे सकेंगे उतने ही काव्य-पूर्ण तथा ग्राह्य होंगे। मूर्तवाद ने, जैसा स्पष्ट है, प्रतीकवाद को कुछ ही अंशों में अपनाया और उनका प्रमुख उद्देश्य यही था कि पञ्चम जार्ज के समकालीन कवियों की न्यूनता स्पष्ट की जाय और उनकी काव्य-परम्पराओं को अग्राह्य प्रमाणित कर दिया जाय। गागर में सागर भरने का प्रथम प्रयास, आधुनिक काव्य क्षेत्र में, मूर्तवाद ने ही किया और अपनी इस कार्य-शैली और इस काव्य-सिद्धान्त द्वारा उन्होंने प्राचीन काव्य-परम्परा को सदा के लिए विदा कर दिया। उनके विषय नवीन थे, उनकी भाषा मौलिक थी, उनकी शैली नूतन थी, उनके काव्याधार अलौकिक थे। परन्तु इस कठिन शैली को विरले[2] ही अपना सके और यद्यपि मूर्तवाद ने साहित्य-क्षेत्र में एक विशाल क्रान्ति का आयोजन तो किया परन्तु वह लोकप्रिय न हो सका। मूर्तवाद ने जिन काव्य-सिद्धान्तों की प्रशंसा की उसका पूर्ण समर्थन आधुनिक युग की नई कविता से प्रमाणित है क्योंकि इन्हीं की प्रेरणा, जो अस्थायी होते हुए भी महत्त्व-पूर्ण रही, नई कविता के कलाकारों का पथ-प्रदर्शन करती रही और उन्होंने बहुत-कुछ विद्रोह की भावना मूर्तवाद से ही ग्रहण की। मूर्तवाद ने भाषा को साधारण-से-साधारण जीवन के निकट लाने के साथ-साथ इस बात का भी प्रयत्न किया कि केवल वही शब्द-समूह, वही समासपूर्ण शब्द प्रयुक्त किए जायँ जो भाव को नग्न-रूप में व्यक्त कर सकें। शब्द वही हितकर होंगे जो यथार्थतः शुद्ध होंगे और जो सटीक बैठेंगे, श्रेष्ठ काव्य का ऐसे शब्दाडम्बर में कोई प्रयोजन नहीं जिनका प्रयोग कोरे लालित्य के लिए हो, रुचिकर वातावरण प्रस्तुत करने के लिए हो, भावों को सुसज्जित करने के लिए हो।

1. सिम्बोलिस्टस 2. टी० एस० इलियट; एज़रा पाउण्ड; टी० ई० ह्यूम, एफ० एस० फ्लिंट; रिचर्ड ऐलिंग्टन

शब्द-प्रयोग को रूढ़ि से मुक्त करने के पश्चात् उन्होंने शब्दों द्वारा प्रस्तुत लय, टेक, तुक इत्यादि के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई। प्राचीन, मध्ययुगीन तथा उन्नीसवीं शती का काव्य तुक, टेक तथा लय से परिपूर्ण रहा है। एक छन्द में एक लय और एक लय-विशेष के साथ एक छन्द-विशेष की साहित्यिक परिपाटी सी चल पड़ी थी। काव्य इतना सुमधुर तथा लय-पूर्ण हो गया था कि मस्तिष्क को जरा भी किसी बात का प्रयत्न नहीं करना पडता था। जिस प्रकार आलसी व्यक्ति यही चाहता है कि उसके मुख में शहद की बूँद टपकती रहे और लेटा-लेटा वह उसका मधुर स्वाद लेता रहे उसी प्रकार लय-रूपी मधुर मधु का पाठक-वर्ग अभ्यस्त हो गया था। इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि लय की उपस्थिति हमारी मानसिक सुव्यवस्था की भी तो परिचायक है, सूक्ष्म रूप में वह यह भी सकेत देती है कि मानवी मस्तिष्क जिसके द्वारा यह लय प्रवाहित है उसमे किंचित मात्र भी वैषम्य नहीं और वह गहरे कमल-सरोवर की भाँति सन्तुष्ट तथा शान्त है। परन्तु आधुनिक मानवी मस्तिष्क न तो गम्भीर सरोवर-सा शान्त है और न वहाँ कमल ही खिलते हैं। जीवन के कटु तथा क्रूर अनुभव उसमे ईर्ष्या तथा लालसा, स्नेह तथा लोलुपता, गर्व तथा अभिमान, भूख तथा सेक्स, अवैध प्रेम तथा शास्त्रोक्त प्रेम इत्यादि उसमें बवण्डर लाते रहते हैं। जब आज के मनुष्य का मानस विरोधी-भावनाओं का कुरुक्षेत्र बना हुआ है तो फिर उसे लय तथा छन्द से प्रेम क्योंकर हो। यदि मानव-मस्तिष्क मे सुस्थिर, सुव्यस्थित विचारधारा नही तो काव्य मै वह क्यो कर प्रतिष्ठित की जाय, अशान्त मा व की विचारधारा भी अशान्त रहेगी, फलत विचारकों ने काव्य को लय के बन्धन से पूर्णत' मुक्त कर दिया। यद्यपि-रोमाचक कवियों[1] ने लय को काव्य-रचना के लिए नितान्त आवश्यक सिद्धान्त रूप में तो नहीं माना परन्तु प्रायोगिक रूप मे वे उसको अपनाते अवश्य रहे क्योकि उनमे आशा थी, भविष्य पर श्रद्धा थी। परन्तु आधुनिक युग की नई कविता ने अतुकान्त ही नही वरन् पूर्णत. मुक्त छन्दो अथवा छन्द-मुक्त रचना को ही प्रश्रय दिया। उनकी मानसिक अवस्था मे ऐसा होना उचित भी था। कविता छन्द-मुक्त रूप मे अबाध गति की अधिकारिणी हो गई, रूढि ने उसे छन्द के हाथो बन्दी बनाकर उसे गतिहीन तथा निश्प्राण कर दिया था। जब लय तथा छन्द दोनो रूढिग्रस्त बन्धनो से काव्य मुक्त हो गया तो कवियों को विषय-चयन मे पूर्ण स्वतन्त्रता मिलना स्वाभाविक ही था। काव्य के विषयाधार अत्यन्त विस्तृत कर दिये गए' जीवन के किसी भी क्षेत्र से काव्य-विषय चुने जा सकते थे और किसी भी प्रकार के काव्य-विषय पर निषेध न था। इस स्वतन्त्रता ने जीवन के समस्त व्यापक स्थलों की ओर कवि की दृष्टि एकाग्र की। उन्नीसवीं शती के कुछ श्रेष्ठ विचारकों[2] का यह सिद्धान्त-सा था कि कुछ विषय ही काव्य के लिए उपयोगी होंगे और कुछ नहीं। अब जीवन के अनेक छोटे-मोटे स्थल, जो सदा से कवियो की दृष्टि से दूर रहे, पुनः काव्य की परिधि में आ गए और विषय-सम्बन्धी रूढ़िगत सिद्धान्तो का समूल विनाश हो गया। परम्परागत विषय, छन्द तथा लय के बन्धन से मुक्त होकर काव्य के ऊपर यह उत्तरदायित्व रखा गया कि अनुभूति की तीव्रता ही काव्य का श्रेष्ठ लक्षण होगी और वही कविता श्रेष्ठ कविता कहलाएगी जो अपने यथार्थ एव नग्न रूप में सीधे हृदय पर चोट करे।

एक ओर जहाँ कवि तथा विचारक काव्य-सिद्धान्तो का नव-निर्माण कर रहे थे दूसरी ओर उस नवीन कविता के लिए नूतन वातावरण तथा नवीन पृष्ठभूमि का भी निर्माण हो रहा था।

१. वर्ड्सवर्थ २. मैथ्यू आरनल्ड

जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं, औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ नागरिक जीवन में नवोत्साह आने लगा था और इस नवोत्साह ने ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्र मानव के स्वच्छन्द विचरण के लिए सहज ही प्रस्तुत कर दिये थे। उन्नीसवीं शती के काव्य-साधकों की प्रकृति-प्रियतमा परित्यक्ता नारी समान श्रीविहीन होने लगी थी और नगर-निवासी श्रमजीवी बादलों की छटा सड़कों की कँकरीली जमीन अथवा कोलतार से पुते हुए राज्य-मार्ग से ही देख सकते थे। आधुनिक मनुष्य ने बाल-सूर्य की रक्ताभ लालिमा में प्रकृति की रक्त-पिपासु-मुद्रा की छाया देखी। वह उसके नग्न स्वरूप को देख चुका था, वह उसके भ्रामक आकर्षण से कहीं दूर जा चुका था। आधुनिक युग का मानव कोयले की खदानों मे, माता वसुन्धरा के विषैले उच्छ्वासो मे झुलस चुका था, महासागरों की थिरकती हुई जल-राशि मे वह मानवी-जीवन के भूखे विकराल काल के दर्शन कर चुका था, उसके लिए जीवन मृत्यु-मय था, जीवन-मय नहीं। इन्हीं नवीन अनुभवों ने नई कविता की रूप-रेखा बनाने का बीडा उठाया। बीसवी शती के प्रथम बीस-वर्षों में युद्ध सम्बन्धी जो नवीन अनुभव अँग्रेजी समाज को हुए उनके द्वारा भी नई कविता को कम प्रोत्साहन नहीं मिला। यद्यपि युद्ध-सम्बन्धी काव्य मे, बहुत कुछ अशो में हम पुरानी काव्य-रूढियो की पुनः अवतारणा देखेंगे परन्तु जहाँ तक अनुभव-क्षेत्र का प्रश्न था वह किसी-न-किसी रूप मे अवश्य विस्तृत हुआ। राष्ट्र तथा देश भक्ति की भावना पुराने परम्परागत नारे लगाकर ही प्रज्वलित की जा सकती थी और हुआ भी ऐसा ही। युद्ध के प्रथम चरण के कवियो ने देश की रक्षा के लिए नवयुवकों को चुनौती दी, राजनीतिज्ञों ने उन्हे राष्ट्र के सरक्षको के नाम से पुकारा और चुनौती स्वीकार करते हुए सैकड़ो नही लाखों नवयुवक युद्ध की बलिवेदी पर बलि हो गए। परन्तु युद्ध की समाप्ति के साथ-साथ नवीन अनुभवो की बाढ-सी आई। राष्ट्र भक्ति तथा देशभक्ति के खोखलेपन के तीव्र अनुभव समाज को प्राप्त हुए, राष्ट्र के सरक्षक अपनी बेकारी की अवस्था मे अप्रिय सम्बोधनो से सम्बोधित होने लगे : राष्ट्र के हित अपना खून बहाने वाले मैदान से लौटते ही राष्ट्र की आँखों में गिर गए। युद्ध-क्षेत्र मे उन्होंने मृत्यु का नग्न रूप देखा था, घर लौटते ही उन्होने राजनीति का नग्न रूप देखा। हथेली पर जान रखकर लड़ने वालो का विश्वास परम्परागत वीर-आदर्शों पर से सदा के लिए उठ गया।[१] खन्दकों मे सडती हुई लोथो ने देशभक्ति की भावना को काफूर कर दिया, गोलियो से छिदी हुई छातियों से निकलते हुए खून के फौवारो ने राजनीतिज्ञो की कलई खोल दी : युद्ध-जनित काव्य में वीभत्स-रस अविरल गति से बह चला। करुण रस की गोदी में वीभत्स का संयत नर्तन ऐसा आभास देता था मानो अबोध बालक नरमुण्ड के प्याले से, मुस्कराता हुआ दूध की घूँट पी रहा है।

जीवन के इस व्यापक अनुभव ने काव्यादर्शों मे महान् परिवर्तन ला दिया, काव्य-कला अब अनुकरण-मात्र नहीं; उसका प्रमुख ध्येय है—अनुभव-विकास। श्रेष्ठ काव्य वही है जो दूसरों को अनुभूति दे; जाग्रत करे। और जब तक कवि के विकसित अनुभव पाठक-वर्ग के हृदय में आसीन नही होते काव्य श्रेष्ठ स्तर नहीं ग्रहण कर पाएगा। बिजली का बटन दबाते ही कमरा रोशनी से जगमगा उठता है; काव्य की पक्ति दुहराते पाठक का मानस जगमगा उठना चाहिए। इस नवीन काव्यादर्श ने नई कविता को नवीन विषयाधार दिए, नवीन शब्द दिए, नवीन भाषा दी, नवीन अलकार दिये, नवीन शैली दी, नव-जीवन दिया।

---

१. सिगफ्रिड सैसून, रॉबर्ट निकल्स; ओवेन।

· ३ ·

जैसा कि हम पिछले विवेचन द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं, आधुनिक जीवन में नवीन अनुभवों ने कवियों के सम्मुख अनगिनत विषयाधार प्रस्तुत कर दिए, उनकी दृष्टि में न तो कोई विषय काव्य-निर्माण की दृष्टि से हीन है और न निकृष्ट। यदि कवि का अनुभव श्रेष्ठ है तो विषय स्वतः काव्यमय हो जायगा। अनुभव की श्रेष्ठता ही उनके लिये मूल्यवान् है और कुछ नहीं। अनुभव का प्रकाश तथा उसका विकास ही कवि का श्रेष्ठ गुण रहेगा। फलतः झिलमिलाती मोमबत्ती[1], मृत्यु का अप्रिय अनुभव,[2] मीनार से,[3] जहाजों के गोदाम के निकट,[4] निर्वासित का पत्र[5] बंजर धरती[6] घोंघे से,[7] साँप,[8] मानवी लोथों का ढेर,[9] खन्दकों का सवेरा,[10] विफलता;[11] पागलों की बस्ती,[12] क़ैदी,[13] सड़क,[14] विकराल काल,[15] इत्यादि ऐसे नवीन विषयाधार कवि को मिले जो उसे काव्य-रचना के लिए प्रेरित करने लगे। इन विषयों द्वारा आविर्भूत काव्यानुभव ऐसे न थे जो परम्परागत शब्दों द्वारा व्यक्त हो सकते। रूढ़िगत काव्य में प्रयुक्त शब्दों के प्रति तो यों ही कवियों की विमुखता पहले ही से थी, अतएव इन नवीन विषयाधारों के लिए नवीन शब्दावली की भी खोज दूने उत्साह से आरम्भ हुई। इस अनुसन्धान में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, भूगर्भ-शास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान, मन्तस्तल-शास्त्र सभी ने अपना सहयोग दिया और कवि को एक ऐसी नवीन शब्दावली मिली जिसकी शक्ति अपार थी और जो काव्य-प्रयोग की दृष्टि से नितान्त अछूते थे। कवियों के सम्मुख नवीन सज्ञाएँ, नवीन विशेषण, नवीन अव्यय, नवीन क्रिया-विशेषण, नवीन क्रियाएँ रह-रहकर आने लगीं और उन्होंने उनका मनोनुकूल प्रयोग भी किया। वाक्य-विन्यास ने नित-नूतन रूप लेने आरम्भ किये और कवि उनकी रूढ़िगत सुव्यवस्था के प्रति विमुख हो गया। सज्ञाओं ने सकेतों का अक्षय कोष खोल दिया और मौलिक अनुभूतियों को स्पष्ट करने में नितान्त मौलिक विशेषणों का प्रयोग होने लगा। उपमा तथा उपमान क्षेत्र में विशेष क्रान्ति आई और मानवी अनुभवों के सुदूर क्षेत्र से नहीं वरन् दिन-प्रतिदिन के अनुभव-कोष से नवीन उपमाओं तथा रूपकों की सृष्टि होने लगी।[16] अँग्रेजी भाषा की तलछट तक का अनुसन्धान इसलिए होने लगा कि ऐसे शब्द पुनः जीवित कर दिये जायँ जो काव्य की आत्मा के प्रतिकूल समझे गए थे और उनमें नव-जीवन फूँक दिया जाय। अध्ययन का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि किसी भी क्षेत्र से शब्द-चयन किया जा सकता था। इसके साथ-ही-साथ शब्दों को नवीन सन्दर्भ मिलने आरम्भ हो गए और प्रत्येक शब्द में निहित नाद-शक्ति, सकेत-शक्ति, आह्वान-शक्ति का पूर्ण उपभोग काव्य में सम्भव किया गया। अक्षरों द्वारा निर्मित शब्द केवल थोथे अथवा कोरे अक्षर नहीं होते, उनमें सदियों की मानवी अनुभूतियाँ निहित रहती हैं, उनके सकुचित गागर में सकेतों का सागर छिपा रहता है, इन्हीं निहित सकेतों को नवीन कवि नई कविता में सुस्पष्ट करने में सलग्न है।

यह एक बहुत पुराना साहित्य-सिद्धान्त है कि शैली व्यक्तित्व की परिचायक है और जिस

१. द कैण्डिल इनडोर्स २ ऐन आइरिश एयरमैन फोरसीज़ हिज़ डेथ ३. द टॉवर ४. एबव द डॉक्, ५ एक्ज़ाइल्स लॅटर ६. वेस्ट-लैण्ड ७ टु ए स्नैल ८. स्नेक ९. डेॅड मैन्स डम्प १०. ब्रेक आव डे इन द ट्रेंचेज़ ११ फ्युटिलिटी, १२. मेन्टल केसेज १३. द प्रिज़नर्स १४. द रोड १५. टाइम हंटिंग। १६. टी. एस. इलियट · वेस्टलैण्ड

कवि का व्यक्तित्व जितना ही अधिक मौलिक तथा महान् होगा उतनी ही उसकी कविता शक्तिमय होगी। नई कविता के कवि का व्यक्तित्व इतना जटिल तथा उसकी विचारधारा इतनी गम्भीर है कि उसका स्पष्ट विवेचन असम्भव-सा होता। इसका कारण यह है कि जब जीवन के पार्थिव स्तम्भ नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, जब प्राचीन मान्यताएँ अपना खोखलापन लिए मुँह चिढ़ाती फिरती हैं और जब जीवन के सभी बाह्याधार जिन पर जीवन को विश्वास था, श्रद्धा थी, एकाएक धूप में मोम के समान गलने लग जाते हैं तो मानवी व्यक्तित्व इनकी चपेट मे आकर झुँझला उठता है; उसकी आँखो के सामने अन्धेरा छा जाता है। यथार्थ आदर्श को चुनौती देने लगता है। और इसी चुनौती को स्वीकार कर आज का कवि अन्तर्मुखी हो गया है। उसने जीवन के यथार्थ को परख लिया, अब वह अपने को स्वय परखना चाहता है। उसकी आँखे पहले बाह्य-जगत् पर थीं, अब वे अन्तरजगत् पर एकाग्र हो गई। उसका अनुभव बार-बार पुकारकर कह रहा था कि उसकी अर्जित सम्पत्ति उसका साथ नही देगी, अब वह यह जानना चाहता है कि क्या उसकी प्रकृतस्थ सम्पत्ति उसका साथ देगी ? क्या वह उस पर विश्वास करे ? क्या वह जीवन-मरण का प्रश्न हल कर देगी ?

ऐसे विषम वातावरण मे, जिसका विस्तृत विवेचन हम पहले कर चुके है, नई कविता का कवि बुद्धिवादी हो गया, मनोविज्ञानज्ञ हो गया, मनस्तलशास्त्री हो गया। अपनी आँख अन्तरतम की ओर पलटते ही उसे बुद्धि के विशाल साम्राज्य का दर्शन हुआ जिसका वह निरीक्षण और अनुसन्धान करना चाहता है। बाह्य-जगत् की मृग-मरीचिका ने उसे सन्तप्त तथा त्रस्त कर निराश्रित छोड़ दिया। अब वह बुद्धि के विशाल-साम्राज्य में स्वच्छन्द विचरण करेगा और अपनी शान्ति-प्राप्ति के उपकरण वही ढूँढेगा। बालक जब गुड्डों-गुड़ियों के विवाहोपरान्त उनसे ऊब उठते हैं तो उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर यह देखना चाहते हैं कि उनके अन्दर क्या है, अथवा जब घड़ी बन्द हो जाती है और बहुत हिलाने डुलाने पर भी टस-से-मस नही होती तो हम उसके पुरजे-पुरजे खोल कर ही दम लेते हैं। नई कविता का कवि अपने व्यक्तित्व की समुचित परख करना चाहता है। जटिल व्यक्तित्व की शैली जटिल हो तो आश्चर्य क्या !

मानव मस्तिष्क का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत है। जिस प्रकार पौराणिक कथाओं के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल इत्यादि मे विभाजित है, उसी प्रकार मानव-मस्तिष्क के भी अनेक स्तर हैं. प्याज के छिलके समान सभी एक-दूसरे से सम्बद्ध है और अपनी अलग-अलग क्रियाओं में व्यस्त है। मधुमक्खी के छत्ते समान उसके छिद्रों में विद्युत गति के समान यातायात लगा हुआ है, इसीलिए तो एक क्षण मे ही वह जमीन-आसमान के कुलाचे मिला लेता है। ऐसे जटिल मस्तिष्क के रहस्योद्घाटन मे नवीन युग का कवि व्यस्त है, फलतः उसकी शैली मे नैसर्गिक दुरूहता अनिवार्य है। मस्तिष्क के कुछ स्तर तो सजग हैं और हमारे क्रिया-कलाप के उत्तरदायी हैं परन्तु कुछ ऐसे हैं जो सजग नहीं परन्तु अर्ध-सुप्तावस्था मे कार्य-रत हैं और ऐसे अर्ध सुप्तावस्था के मस्तिष्क का अनुसन्धान यदि अर्ध स्पष्ट शैली को जन्म दे तो यह स्वाभाविक ही होगा। इसके साथ-साथ मानव-मस्तिष्क के कुछ ऐसे भी स्तर हैं जो पुरानी कहानियों मे वर्णित राजसुन्दरी के समान हजार वर्षों की निद्रा में सुप्त हैं और जिस प्रकार गड़े हुए धन पर, किंवदन्तियों के अनुसार, मृत आत्माएँ अपना एकाधिकार जमा लेती हैं उसी प्रकार अनेक सचित अनुभूतियों पर इनका एकाधिकार है। उनमें न तो हम पैठ पाते हैं और न उनका स्पष्ट

परिचय ही हमें प्राप्त है। हमारी निद्रावस्था अथवा प्रलापावस्था में यदा-कदा वे कुछ संकेत-मात्र दे जाते हैं। वे अक्षय, अस्पष्ट अनुभूतियों के कोष को अपने दामन में छिपाए बैठे रहते हैं और हमारे तर्कहीन क्रिया-कलाप के कभी-कभी उत्तरदायी समझे जाते हैं। मानस के ऐसे स्तर को स्पष्ट करने में तर्क-विहीन शैली का प्रयुक्त होना अस्वाभाविक नहीं। फलतः नई कविता की शैली इसीलिए दुर्बोध है कि वह मानवी मस्तिष्क के जटिल अन्वेषण में व्यस्त रहती है। वास्तव में एक क्षण में ही अपनी बुद्धि द्वारा हम न जाने क्या-क्या सोच लेते हैं। तार के स्वीकृति-पत्र पर हस्ताक्षर करते-करते हजारों विचार हमारे मस्तिष्क पर चोट कर जाते हैं और यदि तार थोड़ी देर न पढ़ा जाय तो पसीना छूट पड़ता है, उसी प्रकार मस्तिष्क की गति-विधि अत्यन्त शीघ्रगामी है, उसमें विद्युत की तीव्रता है, सागर की गम्भीरता है, आकाश की विशालता है। इसलिए कहीं तो नई कविता लम्बे डग मारती दिखाई देती है, कहीं छोटे-छोटे शब्द समूहों द्वारा अनगिनत संकेत देने का प्रयत्न करती है और कहीं अनेक मानसिक अनुभव, विविध प्रतीकों को समाहरित कर, हम तक पहुँचाने का प्रयत्न करती है। भानमती के पिटारे-समान हमारा मानसिक जगत् अनेक, अपूर्व, असम्बद्ध तथा असमन्वित अनुभवों को लिए फिरता है और आधुनिक कवि इसी प्रयत्न में संलग्न रहता है कि वे ही अनुभव पाठकों तक शीघ्र-से शीघ्र, स्पष्ट-से-स्पष्ट तथा नग्न-से-नग्न रूप में पहुँचाए जायँ। जिस प्रकार लोहे के अनेक अनगिनत छोटे-मोटे कण चुम्बक से चिपक जाते हैं उसी प्रकार हमारे एक मानसिक अनुभव के साथ अनगिनत छोटे-मोटे अनुभव लिपटे रहते हैं। इन्हीं सामूहिक अनुभवों का प्रकाश तथा विकास नई कविता का प्रमुख लक्ष्य है और इसी कारण सामूहिक अनुभवों को व्यक्त करने वाली शैली भी अनेक अप्रयुक्त उपकरणों का सहयोग ढूँढती है। कहीं वह नैतिकता तथा मनोविज्ञान की कशमकश स्पष्ट करती है, कहीं इच्छा-शक्ति तथा कार्य-शक्ति के वैषम्य का दिग्दर्शन कराती है, कहीं सेक्स की विषम भावनाओं का निरूपण करती है। आधुनिक कवियों की नई कविता की शैली इसी उत्तरदायित्व से अत्यन्त बोझिल है और उसकी दुर्बोधता का यही रहस्य है।

परन्तु यदि सुस्थिर रूप में देखा जाय तो नई कविता की शैली इतनी जटिल तथा दुर्बोध नहीं जितना आज का पाठक-वर्ग उसे समझ रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि नई कविता लेटे-लेटे नहीं पढ़ी जा सकती, अनेक सन्दर्भों का परिचय व्यापक पठन-पाठन द्वारा पहले ही हमें प्राप्त होना चाहिए, तभी हम उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकेंगे। उपमाओं की मौलिकता भी हम थोड़े-बहुत चिन्तन के पश्चात् स्पष्टतः समझ सकते हैं और अनेक समाहरित उपमाओं की समष्टि के सौन्दर्य को भी सहज ही परख सकते हैं। कहीं-कहीं हमें समस्त कविता छोटे अक्षरों में ही लिखी मिलेगी, कहीं पर विराम-चिन्हों का पूर्ण लोप होगा[1], कहीं रेखागणित तथा बीजगणित के सिद्धान्तों का अनुसरण दिखाई देगा और कहीं ऐसे विचित्र शब्दों का प्रयोग होगा जो अपनी अर्थ-शक्ति नहीं वरन् आह्वान-शक्ति के कारण प्रयुक्त हुए हैं।[2] कहीं एक अनुभव-बिन्दु से छिटकते हुए अनेक असम्बद्ध अनुभवों की फुलझड़ी-सी छूटती दिखाई देगी।[3] प्रायः नई कविता नई शैली द्वारा हमारे सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के वैषम्य, वैयक्तिक जीवन के संशय तथा भय और नैतिक तथा आध्यात्मिक एवं बौद्धिक आग्रह-दुराग्रह को पूर्णतः स्पष्ट करना चाहती है। और इसमें सन्देह नहीं कि इन नवीन कविताओं को हृदयगम करने में हमें कल्पना का सहारा अधिक

१. कमिंग्स। २. आडेन तथा स्पेंडर। ३. डे लिविस तथा आइशर वुड।

लेना पड़ेगा तभी हमें उनके शब्द-प्रयोग और उनकी शैली की पूर्ण शक्ति का परिचय मिलेगा। बाह्य रूप में प्रदर्शित जटिल शब्द-प्रयोग, अव्यवस्थित वाक्य-विन्यास तथा लयहीन पंक्तियों में हमें सूक्ष्म रूप में देखने पर नवीन भाव-समन्वय, नूतन लय तथा नवीन अर्थ के दर्शन होंगे।

प्रायः पाठक सहज ही यह पूछ बैठते हैं कि नई कविता में किस रस की निष्पत्ति सम्भव हो रही है। यद्यपि नई कविता करुण के मूल स्रोत से आविर्भूत हुई और करुण तथा वीभत्स का समन्वय कहीं-कहीं अब भी स्पष्टतः दृष्टिगत हो जाता है परन्तु इसकी परख अन्य सिद्धान्तों द्वारा ही सम्भव होगी। रस-परिपाक परिपाटी द्वारा काव्य का मूल्यांकन स्वयं एक रूढ़िगत सिद्धान्त है। षट्रस-व्यंजन एक साथ खाने से कौन स्वाद का विवेचन कर सकेगा। बुद्धिवादी समाज बौद्धिक गुणों से ही नई कविता को परख रहा है। नई कविता रोमांचक युग के श्रेष्ठ कवि शैली का सिद्धान्त दूसरे शब्दों में पुनः दुहरा रही है—'मेरे पास मदिरा की घूँट है, गोश्त के टुकड़ों के लिए और कहीं जाइए।'

आधुनिक अंग्रेजी साहित्य की नई कविता का व्यापक अध्ययन, उसके मूल आधारों का समुचित विवेचन तथा उसकी कला और उसकी प्रभावोत्पादकता का तर्कपूर्ण विश्लेषण अनेक आलोचकों ने यथाशक्ति किया है। कुछ सहानुभूतिपूर्ण आलोचकों ने इस नई कविता को हृदयंगम करने, उसकी आत्मा को परखने, तथा उसकी कला को समादरित करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी है और उनका प्रयत्न किसी हद तक सफल भी हुआ है, परन्तु इतना होते हुए भी नई कविता आधुनिक पाठक-वर्गों के मन में वह स्थान न बना पाई जो अन्य युगों की कविता ने सहज ही बना लिया। उसके प्रति विरोध ही नहीं विद्रोह की भावना भी यदा-कदा दृष्टिगत होगी परन्तु इस विरोध और विद्रोह के होते हुए भी नई कविता अपना नवीन नीड़ निर्माण कर रही है और धीरे-धीरे जन-मन में उसके प्रति प्रेम का आविर्भाव हो रहा है, और उसके आकर्षण की परिधि में विस्तार होता जा रहा है, और यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में यह नवीन काव्य-धारा वेगवती होती जायगी और अपनी नूतन-शक्ति द्वारा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाने में सफल होगी।

प्रस्तुत प्रश्न

जगदीश गुप्त

नई कविता में रस और बौद्धिकता

नई कविता नये युग की नई चेतना से उत्पन्न हुई है और उसकी अभिव्यजना-प्रणाली वही नही है जैसी सामान्यतया काव्यशास्त्रियो द्वारा जानी समझी गई है। शास्त्र और उसके सिद्धान्त साहित्य के किन्ही रूपो के आधार पर निर्मित होते है। नये रूपो के विकास के साथ प्रायः नये शास्त्र और नये सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। रस-सिद्धान्त अथवा अन्य किसी काव्य-सिद्धान्त को सार्वभौमिक, शाश्वत और सर्वव्यापी मानने का मोह कभी-कभी नवीन साहित्य के मूल्याकन मे बाधक भी होता है।

बीसवी सदी के मनुष्य की मनस्थिति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन आ जाने के कारण इतनी दूर तक बदल चुकी है कि वह अपने रागात्मक सम्बन्धो को न तो "फिलासफाइज" करके सन्तुष्ट हो पाता है, न किसी देवता के चरणो पर आत्मसमर्पण करके मुक्ति-लाभ कर पाता है। एक गहरा असतोष, सहज अनास्था और "फ्रस्ट्रेशन" उसके हृदय मे व्याप्त हो गया है जिसके कारण विश्वास ठहर नही पाते। बुद्धि और तर्क उन्हे टिकने नही देते। एक ओर भौतिकता की जड उपासना से उसकी चेतना विद्रोह करती है, दूसरी ओर आत्मा की अतीन्द्रिय सत्ता और अखण्ड अनाहत आनन्द की उसे अनुभूति नही हो पाती। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के सघर्ष तथा उनकी महत्ता के पोषक सिद्धान्तों के द्वन्द्व ने जीवन मे एक विचित्र गतिरोध ला दिया है। आदर्शों में शताब्दियो से प्रतिष्ठित भारी अराजकता आ गई है, तथा आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक सघात घनीभूत हो गया है। यह मनोदशा व्यक्ति की न होकर युग की है और साहित्य के क्षेत्र में आने वाली नई कृतियाँ स्पष्ट रूप से इसको व्यक्त कर रही है। केवल वर्तमान आर्थिक कारणो से ही यह असन्तोष और अनास्था उपजी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनका सम्बन्ध नैतिक मूल्यो और सस्कारो मे आई हुई सक्रान्ति से भी है जिस पर वैज्ञानिक युगीन बौद्धिकता की गहरी छाया है। बुद्धि भावों को स्थायी नही होने देती और फलतः आलम्बन स्थिर नहीं रहते। रस एक विशेष मनस्थिति में विशेष प्रक्रिया से निष्पन्न होता है। इस विपन्न युग के कवि की दृष्टि रस-निष्पत्ति की ओर नही जाती और अधिकाश नई कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नही है, ऐसा मुझे लगता है। पाठको और श्रोताओं को अगर नई कविता रसमग्न नही कर पाती तो मुझे न इसमें कोई खेद होता है और न आश्चर्य। नई कविता को समझने के लिए नई अभिरुचि और नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है। जिनके पास वह अभिरुचि या दृष्टिकोण है उन्हे वह रुचिकर लगती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिस प्रकार रस ग्रहण के लिए

आचार्यों ने श्रोता में अनेक गुणों की आवश्यकता बतलाई है उसी प्रकार नई कविता का आस्वाद ग्रहण करने के लिए विशेष मानसिक संस्कार और बौद्धिकता की अपेक्षा है।

नई कविता बौद्धिकता की छाया में विकस रही है, अतः उसमे एक *अन्तर्निहित आलोचनात्मकता* मिलती है, यथार्थ चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग तथा शैलीगत वैचित्र्य एव नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक-विधान, आदि जिन्हें नई कविता की प्रमुख विशेषताएँ कहा जा सकता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है। आर्नाल्ड की परिभाषा 'Poetry is a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty,' यदि कहीं सर्वाधिक चरितार्थ होती तो कदाचित् नई कविता पर ही।

रस-सिद्धान्त और नई कविता न केवल भिन्न आधारो पर आधारित हैं, वरन् उनमे कुछ दूर तक परस्पर वैपरीत्य अथवा विरोध भी है। दोनों की प्रभाव-प्रक्रिया में सूक्ष्म अन्तर है जिसको परिलक्षित किए बिना नई कविता को न तो समझा ही जा सकता है और न उसके साथ न्याय किया जा सकता है। नई कविता आकर्षण को ही नही विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान मे डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर कर देना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है, सताती अधिक है। कहते हैं सताए जाने मे भी एक मजा होता है। कभी-कभी वह जीवन के भयानक तथ्यों की ओर सकेत करके हमें सहमा देती है—उन तथ्यों की ओर जिनको हम सहज रूप में शायद कभी नहीं देख पाते। रसानुभूति भावों के एक गहरे सामजस्य को लेकर चलती है, नई कविता प्रायः पाठक को असमजस मे डाल देती है। यदि कोई कलाकृति हमें स्पर्शहीन छोड़ दे तो हम उसे कुछ भी नही मानेंगे पर नई कविता हमें स्पर्श करती है, ऐसा मैं स्वानुभव के आधार पर बलपूर्वक कह सकता हूँ। हाँ, उसके स्पर्श करने की प्रणाली अवश्य भिन्न है जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है। इस भिन्नता को भी परखना होगा।

रसवादी शुक्ल जी के अनुसार 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है'। ज्ञान ऊपरी सतह है जिसे चीरकर काव्य हृदय मे अन्तर्निहित रसानुभूति को जगा देता है। रस 'वेद्यान्तर सम्पर्कशून्य' होता है अर्थात् रसास्वादन के क्षणों में चेतना के बौद्धिक व्यापार शान्त हो जाते हैं अथवा यों कहें कि रसात्मक और अन्तर्मुखी हो जाते हैं। भाव और बुद्धि के बीच ऊपरी और निचली, या बाहरी और भीतरी सतहों की कल्पना औपचारिक प्रतीत होती है और यह आत्यन्तिक सत्य नही लगता। आदिम रूप में चेतना कुछ भी रही हो परन्तु युगो के विकास के बाद आज बुद्धि और हृदय की जो परस्पर संगुफित स्थिति है उसमे दोनो को इस प्रकार विभाजित करके नहीं देखा जा सकता। अगर ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार होता है तो यह कहना भी असत्य नहीं है कि भाव-प्रसार के भीतर ज्ञान-प्रसार होता है। भावों की सकीर्ण दीवारें मनुष्य के ज्ञान को संकुचित बनाए रखती हैं। बुद्धि-प्रसूत कभी कोई सशक्त विचार भावधारा को छिन्न-भिन्न कर देता है और कभी किसी भाव का वेग विचारों की शृंखला को विच्छिन्न कर देता है। दैनिक अनुभव का यह सामान्य सत्य अपनी विशेष व्याख्या नहीं चाहता। वास्तविकता यह है कि रस-प्रक्रिया भाव को ही केन्द्र में रखकर चलती है जब कि नई कविता बहुधा विचारों को छोड़ नहीं पाती क्योंकि बुद्धि को असन्तुष्ट अथवा स्पर्शहीन रखकर वह भावों तक जाना नही

चाहती। नये युग का सतर्क वातावरण उसे ऐसा करने नहीं देता। भावों और विचारों के परस्पर उलझे सूत्रों में वह विचारों के सूत्र खींचकर भावों के सूत्रों को छेड़ने का यत्न करती है। बुद्धि से हृदय तक विचारों और रागों के मिले-जुले अनन्त स्तर हैं। आज की कविता इनमें से किसी को भी छू लेने में अपनी सार्थकता मानती है। लाक्षणिता का—जो नये-नये रूपों में सामने आ रही है—उसको बहुत बड़ा बल है। वह रूप और भावों को ही नहीं वरन् उनसे सम्बन्धित विचारों के भी प्रतीक गढती रहती है। उसकी अभिव्यजना प्रायः वक्री होकर चलती है जिसे समझने में बुद्धि की विशेष आवश्यकता होती है। जब कोई कवि अस्त-व्यस्त वस्त्र-विन्यास का वर्णन करता हुआ अन्त में कह उठता है कि 'वह देखो आया सन् तिरपन' (१९५३ : लक्ष्मीकान्त वर्मा) तो भले ही हम रसमग्न न हो सकें परन्तु आने वाले वर्ष की यह रूप-रेखा सहसा हमारे जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती-सी जान पडती है और सारे जीवन पर एक कठोर व्यग्य बन जाती है। पहले मूर्त की कल्पना को उभारकर अन्त में उसे अमूर्त पर आरोपित करके नया अर्थ दे देने में एक विचित्र कलात्मकता भी है। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होने वाली कविताओं में से ऐसे एक नही सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते है जिनमे नया लक्षण-विधान तथा नई अभिव्यजना-शैली का प्रयोग किया गया है। कविताओं के शीर्षक तो प्रायः प्रतीकात्मक ही होते हैं और कविताएँ उनके प्रतीकार्थों का विस्तार। प्रतीकात्मकता की इस बाढ के पीछे भी बौद्धिकता का ही आग्रह दिखाई देता है।

अभिव्यक्ति की इस सारी प्रक्रिया में भाव निश्चित रूप से उतनी सात्विकभात्रमयी, शिरश्चालनयुक्त, विगलित दशा को नही पहुँच पाते जिस तक उन्हें रसवादी कविता सहज ही पहुँचा देती है। विभाव, अनुभाव और सचारियो के सयोजन का इसमे आग्रह दिखाई नही देता। यही क्या, रसवादी कविता के प्राय. सभी प्रमुख लक्षण नई कविता मे नही मिलते यहाँ तक कि भावुकता की भी कमी रहती है। तुकान्त, छन्द, गेयता तथा पुनरावृत्ति आदि का अभाव या इनके प्रति उदासीनता भी बौद्धिकता का ही सहज परिणाम है। आलाप, प्रलाप और विलाप से कविता अब काफी दूर हट गई है। उसके सौन्दर्यबोध में अन्तर आ गया है। अनगढपन में ही वह निखरती है। सजाने-सँवारने, खराद पर चढाने और माँजने से उसकी सहजता नष्ट होती है। कुछ लोगों को इसी कारण नई कविता से क्षोभ होता है। वस्तुतः भाव-प्रणाली की अपेक्षा नई कविता की प्रभाव-प्रणाली परम्परा से कहीं अधिक भिन्न हो गई है। गद्य-साहित्य के अपूर्व सर्वांगीण विकास के कारण कविता और उसके बीच एक व्यवधान आ गया है। नई कविता इस व्यवधान को पूरती हुई आगे बढ रही है। प्राचीन और मध्यकाल मे गद्य कविता के समीप था, आज कविता गद्य के समीप आ रही है। विकास और परिवर्तन के इस क्रम को कोई सिद्धान्त और कोई शक्ति रोक नही सकती। नई कविता किसी प्रतिक्रिया से नहीं उपजी है, वह आधुनिक मानस की सहज परिणति है। पर उसे रसमय कविता को स्थानापन्न करने का दावा नहीं करना चाहिए और न ऐसा सर्वथा सम्भव ही है। समग्र रूप में वस्तु-स्थिति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि काव्य के अनेक रूपो में वह एक ऐसा नवीन रूप है जिसमे अगणित सम्भावनाएँ छिपी हैं। उसका निषेध-मात्र तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता। काव्य-शास्त्रियों को उसे किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा देनी ही होगी।

मैं कविता और रस के सम्बन्ध को एक मौलिक प्रश्न के रूप में ग्रहण करता हूँ और ऐसा

नहीं मानता कि इसका उत्तर अब आगे खोजना ही नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य की आत्मा खोजने का जो अथक प्रयास किया है, उसका ज्ञान नई कविता के समझने में सहायक हो सकता है। भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें रस का समावेश नही है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन आचार्यों ने काव्य में रस-तत्त्व का महत्त्व नहीं समझा। कुछ ने तो रस-सिद्धान्त और साधारणीकरण की समस्या पर बड़ी गम्भीरता से मौलिक रूप में विचार किया है। सारी परिभाषाओं में विश्वनाथ की 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' ही ऐसी है जिसने रस को ही काव्य का अनिवार्य लक्षण माना है। रस की महत्ता पहले भी स्वीकार की गई जैसे नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण और चन्द्रालोक आदि मे। भरत के द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त विशेषतः दृश्य-काव्य के लिए हैं। श्रव्य-काव्य के लिए अलकार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि के सिद्धान्त बने। बाद मे ध्वनि-सिद्धान्त को व्यापक बनाकर अभिधामूला सलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि के अन्तर्गत रस को भी समाविष्ट कर लिया गया। नव रसों का विधान प्राचीन ग्रन्थों में या तो नाटकों के लिए मिलता है या महाकाव्यों के लिए। दोनों मे ही कथा और विस्तार रहता है। रस की निष्पत्ति के लिए स्थायी-भाव, विभाव, सन्चारी भाव और अनुभवों के योग की जो बात आवश्यक है वह स्फुट-काव्य में उस रूप मे सम्भव नही है। इसीलिए प्राचीन मुक्तक-काव्य में चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य आदि की प्रधानता मिलती है। काव्य मे उत्तम, मध्यम और अधम यह तीन भेद करके भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है। स्वय विश्वनाथ ने जब काव्य के लिए रस की शर्त को पूरा पडते नही देखा तो रस-तत्त्व की प्रधानता वाले उत्तम काव्य के साथ अन्य विशेषताओ वाले काव्य को गौण-काव्य कहकर मान्यता प्रदान की। केवल रस की दृष्टि से नई कविता निश्चय ही उत्तम कोटि मे नहीं आती पर जहाँ तक मैं सोचता हूँ हिन्दी की समस्त नई कविता को रस की कसौटी पर कसकर खरा-खोटा बता देना उचित नही है। जैसा निर्देश किया जा चुका है, उसमे लक्षणा-शक्ति का नवीन विकास हुआ है और उक्ति-वैचित्र्य की नई परम्परा का सूत्रपात हुआ है जो बौद्धिकता में सूर के कूटों और कबीर की व्यग्योक्तियो से सर्वथा भिन्न और कहीं अधिक सूक्ष्म तथा श्रेष्ठतर है।

अच्छी कविताओ के साथ बुरी कविताएँ सदा ही रची जाती रहीं। छायावाद के नाम से जितनी कविताएँ सामने आई, क्या सभी मे सवेदनीयता मिलती है? इसी तरह नई कविता पर भी यह आरोप नही लगाया जा सकता। कुछ नये कवि ऐसे भी हैं जिनकी कविता रागात्मक सम्बन्ध को पर्याप्त महत्त्व देती है। व्यक्तिगत रूप में मुझे विश्वास है कि भविष्य मे हिन्दी कविता बुद्धि और हृदय, विचार और राग के बीच अधिक सतुलन स्थापित कर सकेगी और उसे जन-रुचि का आश्रय भी मिलेगा। विदेशी प्रभाव के आत्मसथं तथा समन्वित हो जाने पर नई कविता विशेष प्राण-शक्ति पाकर फले फूलेगी।

आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिल'

मराठी नव-काव्य और रस-विचार

नवीन काव्य और रस पर विचार करते समय पहला प्रश्न यही उठता है कि नवीन काव्य के प्रसंग में रस पर विचार करना क्यों आवश्यक है ? संस्कृत साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र से ज्यादा परिचित आधुनिक आलोचकों का मत है कि परम्परागत संस्कृत साहित्य-शास्त्र नये काव्य की विवेचना करने के लिए विशेष उपयोगी नहीं है। उसके अन्तर्गत मुख्य रस-व्यवस्था इतनी स्थूल है कि वह नव-काव्य की अनेक सुन्दर कृतियों पर भी लागू नहीं होती। नायक-नायिका तथा अलकार आदि के सूक्ष्म भेद उपभेदों का निरर्थक निरूपण, न केवल नवीन काव्य, बल्कि प्राचीन काव्य को भी समझने में सहायक नहीं सिद्ध होता। अमुक कविता में रस-शृ गार है, रति स्थायी-भाव है, नायक धीर-ललित है, नायिका मुग्धा है तथा अलंकार भ्रान्तिमान है, इस तरह की विवेचना काव्य का रहस्य समझने में सहायक नही होती, अतः यही बेहतर होगा कि नवीन काव्य पुराने साहित्य-शास्त्र का आश्रय छोड दे। चूँकि वह ज्यादातर पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है अत. तत्सम्बन्धी विवेचना करने के लिए पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र ही ज्यादा उपयोगी होगा।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के पण्डितों का मत सस्कृत साहित्य-शास्त्र के विरुद्ध क्यो है, इसके कुछ कारण हैं। प्राचीन-काल में सस्कृत-साहित्य के पण्डितों ने मराठी के नवीन-काव्य का स्वागत करने के बजाय उसका तिरस्कार ही किया। हालाँकि यह तिरस्कार लिखित रूप में नही दिखाई पड़ता, क्योंकि सस्कृत के पण्डित मराठी के नव काव्य को इस योग्य नहीं समझते थे कि उसे अपने परिश्रम का विषय बनाते। किन्तु मौखिक वादविवाद में समय-समय पर नवीन कवि अपने को उपेक्षित अनुभव करते थे। साहित्य-शास्त्र का गहन अध्ययन करने वाले पुराने पण्डितो के साथ जिन्होंने नये काव्य के सम्बन्ध में वादविवाद किया होगा उनके पास उस विषय के अनेकों उदाहरण होंगे। ये पुराने पण्डित मराठी के नव-काव्य के प्रथम प्रवर्तक केशवसुत की कविताओं की भी उपेक्षा किया करते थे। वे कहा करते थे कि केशवसुत की कविताओं में न तो रस है और न अलकार ही, ऐसी हालत मे उनको 'काव्य' नहीं कहा जा सकता। वास्तव में वे नये काव्य की निन्दा करते और शृ गार-रस के सस्कृत के किसी श्लोक का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उत्तम काव्य के सम्बन्ध मे उपदेश दिया करते थे।

शायद ऐसे ही पण्डितों को दृष्टि में रखकर श्री केशव सुत ने एक कविता लिखी थी जिसका आशय यह था कि "कविता ऐसी लिखी जानी चाहिए, ऐसे नहीं लिखी जानी चाहिए— यह उपदेश कवियों का देने का आपको क्या अधिकार है ?"

मराठी के नवीन काव्य की शुरुआत के ३०० साल पहले से ही सस्कृत साहित्य-शास्त्र गतिशून्य हो गया था। उसका विकास रुक गया था। वह परम्पराबद्ध और अगतिशील बन गया था। स्वभावत. उसका अध्ययन करने वाले पुराने पण्डित भी परम्पराप्रिय तथ कुंठित मति बन गए थे। वे यह नहीं समझ सकते थे कि साहित्य-शास्त्र परिवर्तनशील है और उसको विकसित कर उसे नव-काव्य की विवेचना करने में समर्थ बनाया जा सकता है।

सौभाग्य से यह स्थिति खत्म होने का क्षण दिखाई पड रहा है। जबसे संस्कृत और

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रों का अध्ययन करने वाले नये पण्डितों ने साहित्य-शास्त्र की आलोचना करनी शुरू की है, तबसे उसकी कुंठित अवस्था समाप्त होने लगी है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य रस सिद्धान्त को परिवर्द्धित करने की अनेक महानुभावों ने कोशिश की है। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने 'उदात्त' नामक एक स्वतन्त्र रस मानने का सुझाव दिया। श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने यह अनुरोध किया कि नवमतवादी साहित्य-शास्त्र का निर्माण करने का समय अब आ गया है। श्री श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने रसों का एक स्वतन्त्र आधार प्रस्तुत किया और शान्त एवं शान्तोत्तर नामक रसों के दो विभाग किये। ज्ञानकोशकार श्री केतकर ने यह मत प्रकट किया कि यदि मराठी साहित्य-शास्त्र का सुव्यवस्थित ढंग से निर्माण किया गया होता तो नई विचारधाराएँ उत्पन्न होतीं और गति-शून्य संस्कृत-शास्त्र की प्रगति अवश्य हुई होती। डॉ० माधव गोपाल देशमुख ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में मराठी साहित्य-शास्त्र की सुव्यवस्थित रचना की। श्री रा० श्री० जोग, श्री द० के० केलकर तथा डॉ० बारवे ने रस-व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया और रस के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए। इसके अतिरिक्त उन्होंने मराठी के नवीन काव्य के उदाहरण प्रस्तुत कर उसकी रसात्मक विवेचना को प्रोत्साहन दिया।

निश्चय ही इन प्रयत्नों से संस्कृत साहित्य-शास्त्र को विकसित होने की प्रेरणा मिली। फिर भी सवाल उठता है कि नवीन काव्य की विवेचना के लिए क्या ये प्रयत्न आवश्यक हैं? पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आधार पर यदि यह विवेचना सम्भव है तो फिर इन प्रयत्नों की क्या जरूरत है?

मैं समझता हूँ कि यह सवाल ज्यादातर उन्हीं लोगों द्वारा उठाया जाता है जो संस्कृत-साहित्य-शास्त्र से अपरिचित हैं। वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने वालों की समझ में यह बात फ़ौरन आ जाती है कि भरत मुनि से लेकर जगन्नाथ पंडित तक संस्कृत साहित्य-शास्त्र का विकास निरन्तर होता गया। काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त और क्रान्तिकारी मत प्रकट किये गए। इस प्रकार रसों की संख्या में वृद्धि हुई। इस शास्त्र ने १६वीं सदी तक के साहित्य की समुचित विवेचना की। उसके सिद्धान्त सही हैं। फिर भी यदि उसे विकसित कर नया रूप प्रदान किया गया तो निस्सन्देह वह नव-काव्य की विवेचना के लिए योग्य और समर्थ बन सकता है। इस प्रकार के प्रयत्नों से साहित्य-शास्त्र में क्रान्ति होकर नये साहित्य-शास्त्र का निर्माण होगा और यही नया साहित्य-शास्त्र नये काव्य की विवेचना करने के लिए पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र से भी ज्यादा लाभप्रद साबित होगा।

केशवसुत तथा उनके बाद के काव्य की रसात्मक विवेचना करने की जिन्होंने कोशिश की उनका दृष्टिकोण यह था कि रसों के स्थायी भाव बदले जायँ और भक्ति तथा वत्सल आदि पूर्व-मान्य रसों को स्वीकार किया जाय। अतः रस-सिद्धान्त की दृष्टि से नव-काव्य की विवेचना करने के कार्य में उनसे ज्यादा मदद नहीं मिली। इसके विपरीत, इस व्यवस्था के अपर्याप्त या अपूर्ण होने का ही अनुभव ज्यादा होने लगा। प्राचीन साहित्यकारों ने उन्हीं भावों को रस माना जिनकी अभिव्यक्ति का उन्हें स्थायी रूप से अनुभव हुआ। फलतः उन्होंने रसों की संख्या भी बढ़ाई। शान्त भक्ति-जैसे नये रस प्रायः सर्वमान्य हो गए। उस समय जिन भावों की अभिव्यक्ति का स्थायी रूप से अनुभव नहीं हुआ था उनको पहले से ही मानना प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के

लिए सम्भव नहीं था। यह काम वास्तव में भावी साहित्य-शास्त्रियों का था। किन्तु इस तथ्य से अनभिज्ञ होने के कारण ही आज अनेक पंडित प्राचीन रस-व्यवस्था के अनुसार नवीन काव्य की विवेचना किये जाने का अनुग्रह करते हैं। निस्सन्देह यह दृष्टिकोण साहित्य-शास्त्र के विकास में बाधक है।

उदाहरण के तौर पर यहाँ हम केशवसुत की सुप्रसिद्ध कविता "तुतारी" (तुरही) की विवेचना प्राचीन रस-संख्या के अनुसार करेंगे। डा० बारवे संस्कृत साहित्य-शास्त्र को परिवर्तन-शील मानने वालों में हैं, किन्तु उन्होंने भी इस कविता को वीर-रस की कविता माना है। प्रस्तुत कविता में समाज की अन्यायपूर्ण रूढ़ियों का जो विरोध किया गया है वही उनके मत में वीर-रस का विभाव है। किन्तु प्राचीन पंडितों के मत में वीर-रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है और उत्साह का लक्षण है: "कार्यारम्भेषु सरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते"। इस उत्साह की जड़ में जीतने की इच्छा रहती है। किन्तु "तुतारी" कविता पढ़ते समय इस प्रकार के स्थायी रस का अनुभव सहृदयों को प्राप्त नहीं होता। डा० बारवे के मतानुसार "उत्साह" स्थायीभाव ही नहीं है। यह मान लेने पर वीर-रस का लोप होता है। अतः उनका सुझाव है कि वीर-रस का स्थायीभाव "अमर्ष" माना जाय। हालाँकि प्राचीन पंडितों ने "अमर्ष" का लक्षण 'सहन न करना' बताया है, फिर भी वह दूसरों द्वारा की गई निन्दा, अपमान तथा आज्ञाभंग को सहन न करने तक ही सीमित है। अत. डा० बारवे को 'अमर्ष' का अर्थ यह करना पड़ा कि "अपने अधिकारों का अनुचित अतिक्रमण सहन न करना।" इस प्रकार उन्होंने "अमर्ष" को वीर-रस का स्थायीभाव बनाया और "तुतारी" कविता को वीर-रस की कविता बनाया।

रस-विवेचना की दृष्टि से यह प्रयत्न स्वागत-योग्य होने पर भी उससे केशवसुत के काव्य का अन्तरंग समझने की इच्छा रखने वाले सहृदय पाठकों को सन्तोष-लाभ न होगा। क्योंकि "तुतारी" (तुरही) कविता पढ़ते समय उनको वीर-रस का आनन्द प्राप्त नहीं होता और उस आनन्द के उत्पादक "अमर्ष" नामक स्थायी भाव का भी अनुभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में मेरी राय में यह ठीक नहीं है कि पुराने रसों के नाम ज्यों-के-त्यों रखकर केवल सदियों से प्रचलित उनके अर्थ बदल दिये जायँ। क्योंकि इससे पुराना साहित्य-शास्त्र जो पुराने काव्य-क्षेत्र पर यथोचित रीति से लागू होता है, बाधित हो जाता है। साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से उचित यही होगा कि नवीन काव्य में प्रतीत होने वाले महत्त्वपूर्ण नये रसों और उनके स्थायीभावों को नया नाम दिया जाय। केशवसुत तथा उनके बाद की कुछ कविताओं में उत्कट रूप में प्रकट होने वाला रस पुराने ९ या १२ रसों से बिलकुल भिन्न है, अतः उसका स्थायीभाव भी विभिन्न माना जाना चाहिए। लेखक ने अपनी यह राय १९४६ में पूना में आयोजित साहित्य-परिषद के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए ज़ाहिर की थी। केशवसुत के काव्य का प्रारम्भ होने के पहले से ही पाश्चात्य साहित्य में इस रस का अनुभव हो रहा था। सम्पूर्ण दृष्टि से एकरस होने वाले कवियों और साहित्यकारों को भी अपने जीवन में एकता की अनुभूति हो रही थी। उनको जनता पर होते अन्यायपूर्ण आक्रमण तथा दलित जनों का उत्पीड़न देखकर दुःख हो रहा था। उनके हृदय में संवेग उत्पन्न होकर क्षोभ भी होता था। उसी क्षोभ को वे अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी ललित कृतियों में प्रकट करते थे। इन कृतियों का रसास्वादन करने वाले सहृदय पाठकों के हृदय में भी यही संवेग और क्षोभ उत्पन्न होता था।

केशवसुत के काव्य के अन्तर्गत रसधारा भी इसी तरह की है। इनकी "तुतारी" (तुरही) कविता का ही उदाहरण लीजिए। उनको लाठियो और जुल्मों से मानवता के पीड़ित होने का तीव्र ज्ञान है। यह पीड़ा देखकर उनके दिल में उसे बरदाश्त न करने और जनता को उचित समाज-व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रेरित करने का "सवेगात्मक भाव" उत्पन्न होता है। इसी संवेग से उत्पन्न क्षोभ उनकी प्रस्तुत कविता में भी मौजूद है।

केशवसुत के काव्य का अन्तरग जानने वाले सहृदयों का उनके काव्य में निहित नवीन रस—जो प्राचीन रस-व्यवस्था मे शामिल नही हैं—की अनुभूति होती है और इस रस को स्वीकार करने के लिए यही अनुभूति काफी है। सहृदयो की अनुभूति ही साहित्य शास्त्र द्वारा मान्य रसाभि-व्यक्ति का प्रमाण है। यह नया रस "वीर-रस" नहीं है। क्योंकि वीर-रस का स्थायीभाव 'उत्साह' होता है और जीतने का उद्देश्य रखता है। किन्तु इस प्रकार का उद्देश्य इस नये रस के स्थायीभाव में नहीं है, "तुतारी" की कुछ पक्तियो मे उत्साह केवल सचारी-भाव की तरह दिखाई पडता है। "तुतारी" पढते समय जिस स्थायीभाव का अनुभव होता है वह रूढियों और अत्याचारों के खिलाफ सवेग का भाव है। चूँकि रसिकों की अनुभूति ही प्रमाण मानी जाती है, अतः प्रस्तुत कविता में कौनसा रसास्वादन होता है, यह सूक्ष्म दृष्टि से देखना आवश्यक है।

मराठी काव्य के समालोचक तथा सहृदय रसिक आचार्य जावडेकर ने यह मत प्रकट किया है कि इधर मराठी काव्य और अन्य साहित्यिक कृतियों में एक नया रस निर्माण हो रहा है और उसकी अनुभूति केशवसुत के काव्य मे प्राप्त होती है।

जहाँ तक नए रस की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, मैं उनके विचारो से समहत हूँ। किन्तु नये रस के नाम, उसके विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव आदि के बारे मे मेरा उनसे मतभेद है।

आचार्य जावडेकर इस नए रस को "क्रान्ति रस" का नाम देते हैं और पुरानी तथा नवीन बातो के सघर्ष को उसका आलम्बन-विभाव तथा नया समाज-निर्माण करने की प्रवृत्ति को उसका स्थायीभाव मानते हैं।

नाम देने का सवाल चाहे अन्य क्षेत्रों में गौण हो पर साहित्य-शास्त्र में परिभाषा की दृष्टि से उसका महत्त्व है। विभाव, अनुभाव तथा सचारीभाव के सयोग से स्थायीभाव का रूपान्तर होता है। व्यक्त रूप को रस का नाम दिया जाता है। रसोत्पत्ति की यह प्रणाली ध्यान में रखकर ही रस तथा उसके स्थायीभाव का नाम आदि निश्चित करना हमारे लिए उचित होगा।

आचार्य जावडेकर द्वारा स्वीकृत 'नया समाज निर्माण करने की प्रवृत्ति' दरअसल भाव ही नही है। यह जरूरी है कि स्थायीभाव की जड मानव की स्वाभाविक वृत्ति मे जमी हो। यह बात उदाहरण से स्पष्ट होगी। 'तुतारी' कविता को पढते समय हमें यह देखना होगा कि 'नये समाज का निर्माण करने की प्रवृत्ति' की अनुभूति होती है या नही। मेरे खयाल से वह कविता पढते समय 'सहन न करने' के भाव की ही अनुभूति होती है। अनुभूति तो किसी भाव की ही हो सकती है और उसी भाव को स्थायीभाव माना जा सकता है। इस भाव को 'अमर्ष' कहा जा सकता है, किन्तु इस शब्द से भी प्राचीन साहित्य-शास्त्र द्वारा निर्धारित लक्षण जुड़े हुए हैं। ये लक्षण प्राचीन साहित्य-शास्त्र के उदाहरणों पर अच्छी तरह लागू होते हैं। उनको व्यापक बनाने के बजाय नये शब्द का निर्माण करना ही बेहतर होगा। इसी कारण मैंने उस स्थायीभाव को 'संवेग' का नाम देने का सुझाव दिया है और उसका लक्षण यह किया है—'सवेगो नाम पर-

पीड़ा दर्शने सहसंवेदनतितिक्षारहितत्वात् प्रतिकारे मनसः प्रवृत्ति नवजगद्रचनात्मिका ।"

रस स्थायीभाव का परिणत व्यक्त रूप होता है। अतः स्थायीभाव से सम्बन्ध रखकर ही उसको (रस) नाम दिया जाना चाहिए। मैं समझता हूँ कि 'क्रान्ति रस' यह नाम उपरि-निर्दिष्ट स्थायीभाव का परिणत स्वरूप दिखलाने में समर्थ नहीं हो सकता। क्रान्ति का अर्थ भावोद्रेक नहीं है। वह पुरानी स्थिति की समाप्ति के बाद नई स्थिति का निर्माण है। रस को इस प्रकार का नव-निर्माण वाचक नाम देना उचित न होगा। जिस काव्य में यह नया रस प्रतीत होता है उसमें हमेशा क्रान्ति का रहना भी आवश्यक नहीं है। कभी-कभी मानवता, जीवनानन्द और विकास अभीष्ट होता है। 'क्रान्ति रस' के प्रयोग से नये रस का रूप संकुचित होने की सम्भावना है। इसीलिए मैंने उस रस को 'प्रक्षोभ' नाम दिया है जो पूर्वोक्त सवेग नामक स्थायी-भाव का परिणत व्यक्त स्वरूप है।

'प्रक्षोभ' नामक नया रस स्वीकार करने से केशवसुत से लेकर मर्ढेकर तक के नव-काव्य में दिखाई पडने वाले नये रस की, जिसका प्राचीन रस-व्यवस्था में अभाव है, सगति अच्छी तरह बैठाई जा सकती है। यहाँ हम मर्ढेकर के काव्य को उदाहरण-स्वरूप पेश कर सकते हैं। परम्परा-गत गतिशून्य साहित्य शास्त्र की रस-व्यवस्था की सीमा के अन्दर यदि उनकी विवेचना करनी हो तो हम कह सकते हैं कि वह बीभत्स रस का है और उसका स्थायीभाव 'जुगुप्सा' (घृणा) है। किन्तु यह विवेचना काव्य के अन्तरग की नही होगी। वास्तविक स्थिति उसके विपरीत है। दर-असल मर्ढेकर के काव्य मे घृणा या बीभत्स रस का अनुभव नही होता, बल्कि आर्थिक घटनाओ से उत्पन्न स्थिति के विरुद्ध सवेग का भाव पैदा होकर 'प्रक्षोभ' रस की ही प्रतीति होती है। घृणा भाव या बीभत्स रस उसमें सचारीभाव का काम करते हैं और मुख्य रस 'प्रक्षोभ' की निष्पत्ति में सहायक होते हैं।

मैं केवल यही बताना चाहता था कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र मे वर्णित रस नवीन काव्य के महत्त्वपूर्ण विषयों की विवेचना करने मे नाकाफी है। अत. नये रसो को स्वीकार करना जरूरी है। इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि सिर्फ रसो की विवेचना करने से ही काव्य का अन्तरग समझ मे आ जायगा। यदि हम चाहते है कि हमारा पुराना साहित्य-शास्त्र नये काव्य की अच्छी तरह विवेचना करने में सहायक बने तो हमे उसका परम्परागत रूप बदलना और उसमे नई विचारधाराओं को सम्मिलित करना होगा। इन प्रयत्नों का उपहास उडाया जा सकता है, किन्तु मैं समझता हूँ कि उनको निश्चित रूप से मान्यता प्राप्त होगी और इससे साहित्य-शास्त्र का पुनरुत्थान ही होगा।

अनुवादक—बालाजीराव जोशी

लक्ष्मीकान्त वर्मा

नई कविता में वर्ग-उन्मूलन और वैयक्तिक कुण्ठाएँ

समकालीन कलाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व, दोनों में संस्कारगत मान्यताओं और बाह्य वस्तु-परिस्थितियों का संघर्ष विभिन्न रूप में व्यक्त हुआ है। विशेषतया उसमें अन्तर्विरोधी और आत्म-विरोधी तत्त्वों का एक विचित्र सम्मिश्रण कुत्सित और भ्रष्ट परम्परा के रूप में दिन-पर-दिन पनपता जा रहा है। एक ओर कलाकार की सहज, स्वाभाविक चेतना की बरबस पकड़ है और दूसरी ओर वस्तु-स्थिति, वस्तु-सत्य और यथार्थ का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव। इन दोनों सीमाओं में उसका बौद्धिक ह्रास और उसकी अस्वाभाविक अभिव्यक्ति उसकी कृति के मूल्य, शिल्प और वस्तु तीनों को नष्ट कर रही है। इस मानसिक उत्पीड़न से ग्रस्त होकर कलाकार यह भूल जाता है कि उसका उद्देश्य जीवन के प्रति एक समुचित और सबल दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है न कि किसी दृष्टिकोण को आतंक रूप में अपने ऊपर लाद लेना। आज की नई कविता में इसी प्रकार के विरोधी तत्त्वो के कारण एक ओर अस्वाभाविक, अनियन्त्रित, रसहीन, यन्त्रवत् टकसाली रचनाएँ बढ़ती जा रही हैं और दूसरी ओर अन्यथा रूप से संस्कार-च्युत रचनाएँ प्रस्तुत हो रही हैं जिनमें केवल विशृङ्खल, बनावटी और खोखली भावनाएँ और मानसिक विक्षिप्तता ही दृष्टिगोचर होती है। यह बात केवल नई पीढ़ी के कलाकारों, कवियों अथवा लेखकों में ही नहीं है वरन् पुरानी पीढ़ी के कवियों में भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इसकी पृष्ठभूमि के रूप में कुछ सामाजिक, बौद्धिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी भ्रान्तियों को मनोवैज्ञानिक रूप से समझ लेना आवश्यक है :

★ कवि का व्यक्तित्व और उसकी यथार्थ वास्तविकता (Artist's Personality & Social Reality) का विरोध तथा उसकी व्यक्तित्वहीन कृतियों का बाहुल्य उस स्थिति के परिणाम हैं जिसमें व्यक्ति अपने संस्कारों से च्युत होने के कारण कला, साहित्य और कविता में मिथ्या स्वप्न-सृजन (Day dreaming) नकली साहसिकता (Pseudo-adventurism) और चमत्कारिक प्रयोग (Novice experiments) के भ्रम में सच्ची अनुभूतियों को ग्रहण करने में असमर्थ हो रहा है।

★ भौतिकवाद का मूल दर्शन काल्पनिक आदर्शवाद का पलायन बनकर मनमाने स्वप्न गढ़ता जा रहा है जिसके कारण आज के साहित्य, कला और कविता में अस्वस्थ, नीरस और निराशावादी प्रवृत्तियाँ भी विकसित होती जा रही हैं। भौतिकवाद के आधार में जिन वैज्ञानिक तथ्यों और अन्वेषणों का सहारा लिया जाता है, काल्पनिक आदर्शवाद उसके बिना चलना चाहता है किन्तु भौतिकवाद के बाह्य रूप को वह अस्वीकार भी नहीं कर पाता, फलस्वरूप कृतियों में उलझन, अनास्था, आत्म-पीड़न और विद्रूप की प्रवृत्तियाँ उभर आती हैं।

★ व्यक्ति और समाज का संघर्ष, चेतन और उपचेतन मानसिक स्तरों में जिन कुण्ठाओं को विकसित करता है, उनका प्रभाव आज की कविता में स्पष्ट रूप से मिलता है। व्यक्ति के माध्यम से समाज को देखने की एक प्रवृत्ति है जो एकांगी और संकीर्ण सीमाओं में बँधी है। समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखने की प्रवृत्ति में मिथ्या आतंक और अनावश्यक यान्त्रिकता उभर आती है जिसमें सतही तरीकों से अनुभूतियों को अपाहिज बनाकर व्यक्त किया जाता है।

★ इसी से मिलती-जुलती हुई वर्ग उन्मूलन से प्रभावित रचनाएँ हैं जिनमें स्वतः लादी हुई मान्यताओं को फैशन के रूप में स्वीकार करके स्वाभाविक प्रवृत्तियों और संस्कारगत भावनाओं की

अवहेलना बिना किसी उचित धारणा या वास्तविक ज्ञान के की जाती है। वर्ग-उन्मूलन की भावना को अस्वस्थ ढंग से स्वीकार करके आज का एक साहित्यिक वर्ग, कला की मान्यताओं की अवहेलना को ही सृजन की शक्ति मान बैठा है। सामाजिक उपयोगितावाद को अतिशय रूप में स्वीकार करके अस्थायी और रुग्ण साहित्य पैदा किया जा रहा है जिसकी मान्यताएँ स्वयं सामाजिक यथार्थवाद के मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ अनास्थावादी साहित्य को प्रोत्साहन दे रही हैं। यह अनास्था किसी व्यवस्था-विशेष के प्रति न होकर स्वयं अन्तर्मुखी होकर अनियन्त्रित चीख-पुकार के सिवाय और कुछ भी नहीं रह जाती।

मानसिक विक्षिप्तता भी इसी सस्कार-च्युत भ्रमित काव्य-परम्परा की देन है जिसमें परम्परागत सस्कारों को अमान्य समझने की वर्तमान अनास्था में व्यक्ति के मानसिक विकास और जिज्ञासा को सँभालने की क्षमता नहीं है। परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार की अन्तर्मुखी विक्षिप्तता अथवा बहिर्मुखी असगत भवितव्यता का विकसित होना स्वाभाविक है।[1]

इसके साथ-साथ मार्क्सवादी विचार-धारा का सैद्धान्तिक पक्ष भी नई कविता में उपयुक्त भावनाओं को उत्प्रेरित करने में सहायक है क्योंकि कम्युनिज्म में कवि अथवा कलाकार के व्यक्तित्व को जान-बूझकर दबाने की प्रवृत्ति है। सामयिक साहित्य को महत्त्व प्रदान करके मार्क्सवादी समीक्षक लेखक की आन्तरिक अनुभूतियों की स्वाभाविकता को पथभ्रष्ट कर देता है और केवल भौतिक और उपयोगी साहित्य के निर्माण के लिए बाध्य भी करता है।

किन्तु इसी प्रकार का अतिवादी आदर्शवाद, व्यक्तिवाद और रूमानी साहित्य भी उन्हीं दोषों को अपना लेता है जो एक यान्त्रिक कम्युनिस्ट अपनाता है। दोनों ही अतिवादी बन जाते हैं और इस प्रकार या तो विकृत भौतिकवादी का रूप ग्रहण कर लेते हैं या घोर बुद्धिवादी के रूप मे पहेली बुझाने लगते हैं। अपने वर्ग के सस्कारो से लदे हुए भी किसी अन्य वर्ग की भावना को जबरदस्ती अपने ऊपर आरोपित कर लेते हैं और उसकी प्रतिक्रिया उनके कृतित्व पर असगत, असाधारण ग्रन्थि के रूप में व्यक्त होती है। इसके प्रमाण पन्त, निराला, नवीन से लेकर बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर और अन्य तरुण कवियों में भी पाए जाते हैं।

पन्त जी की नई कविताओं मे ऐसी भावनाओं का प्रत्यक्ष प्रमाण समय-समय पर मिलता है। पन्त जी 'पल्लव' में सूक्ष्म छायावादी रूमानी कवि थे। "'पल्लव' काल में मुझसे (पन्त जी से) प्रकृति की गोद छिन जाती है, 'पल्लव' की रूप-रेखा मे प्राकृतिक सौन्दर्य तथा उसकी रगीनी तो वर्तमान रहती है, किन्तु प्रभावों के रूप मे उससे वह सान्निध्य का सन्देश लुप्त हो जाता है। प्रकृति के उपकरण राग-वृत्ति के स्वर बन गए हैं।" यह सूक्ष्म रूमानी भावना ही उनकी अपनी स्वाभाविक भावना है। किन्तु जहाँ वह अपनी इस आधार-पीठिका को छोड़कर आरोपित गतिविधि

१. The Neurotic is himself a symptom of the modern conflict between the individual and Society, a conflict which might, in other ages, have been productively surmounted in artistic creation Everyone suffers--individual, community and not the least arts as an ideological expression of their inter-relation, Otto Rank ART & ARTIST

को अपनाते हैं वहीं उनकी कविता में शिथिलता और भावभूमि में बौद्धिकता[1] भी बढ़ जाती है। 'ग्राम्या', 'युगवाणी' और 'युगान्त' तक की रचनाओं में पन्त जी की यह अनिश्चित और दुविधापूर्ण स्थिति रहती है। एक जगह पर तो वह "मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना को उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब" मानते हैं, इसीलिए वह कम्युनिज़्म से प्रभावित होकर यह भी कहते हैं कि "मेरे प्राण सौन्दर्यवादी हैं और मेरा सौन्दर्य लोक-प्राण है ··मैं चाहता हूँ कोई प्रतिभाशाली कवि कम्युनिज़्म के लोक-प्राण कल्याणकारी सौन्दर्य को राजनीति और अर्थनीति की शृङ्खलाओं से मुक्तकर विश्व के हृदय शतदल में प्रतिष्ठित कर दें जिससे लोग उसे अनायास ही ग्रहण कर सकें।" किन्तु दूसरी ओर राष्ट्रवादी भावनाओं, गांधीवादी आन्दोलन और कम्युनिज़्म के बीच उनका सौन्दर्यवादी, प्रकृति-उपासक और सूक्ष्म रूमानी कवि भटकाव में पड़ जाता है। पन्त जी को "जब वस्तु-जगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना की उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है 'यही कारण है कि मेरी रचनाएँ भावात्मक न रहकर बौद्धिक बनती गईं।"[2] यह सूनापन निश्चय ही उनकी मानसिक ग्रन्थियों का सूनापन था जो प्रतिक्षण एक समझौते की ओर उन्हें खींचता रहा। यही कारण है कि इस समझौते में उनकी संस्कार-च्युत भावना पराजित और पीड़ित आत्मग्लानि के रूप में व्यक्त होकर यहाँ तक कह देती है :

देह-मना मानव मुर्झाता, आत्म मना मानव दुःख पाता
इस युग में प्राणों का जीवन, बहता जाता, बहता जाता।

पन्त के बाद निराला की नई कविताओं का आकलन आवश्यक है। 'परिमल' की कविताओं में उनकी आस्थावादी प्रवृत्ति है जो 'अनामिका' तथा 'तुलसीदास' तक चलती है किन्तु 'बेला', 'नये पत्ते' और 'कुकुरमुत्ता' में जब वह वस्तु-सत्य और अपनी शास्त्रीय चेतना को एक साथ बैठाने का प्रयास करते है तो उनकी कविता मे असाधारण संस्कार-च्युत अतिवादिता का प्रत्यक्ष विस्फोट-सा हो जाता है। 'कुकुरमुत्ता' जहाँ विषय-वस्तु के सचयन और व्यापक जीवन से प्रेरणा लेने का सही संकेत देता है, वहीं वह असन्तुलित वर्ग-उन्मूलन का आक्रोश भी व्यक्त करता है, जिसमे काव्यानुभूति की अपेक्षा एक 'वस्तुवादी' वर्ग-भावना की अपरिष्कृत अभिव्यक्ति है :

"अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रँगो' आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट,
× × ×

---

१. "भावना और बुद्धि से, संश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं · इस ह्रास और विश्लेषण-युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज में ही व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है, अतएव उससे अधिक कला-नैपुण्य की आशा नहीं रखनी चाहिए।"···पन्त जी। २. 'आधुनिक कवि'।

रोज़ पड़ता रहा पानी
तू हरामी ख़ान्दानी,
× × ×
ख़्वाब में डूबा चमकता हो सितारा
पेट में डंड पेलते चूहे, ज़बाँ हर लफ्ज़ प्यारा"

क्रमशः यह प्रवृत्ति और भी भोंडी सीमा तक बहक जाती है। यह प्रवृत्ति 'सम्पादकीय' और 'साहित्यिक कृति' के मौलिक भेदों को भुलाकर डेढ चावल की खिचडी अलग पकाती है जिसमें अनुभूति की हेयता, अनियन्त्रित आक्रोश, क्रोध और खीझ अधिक है। निराला जी के स्वर में शक्ति, शिल्प मे सन्तुलन और सौन्दर्य-बोध में निश्चित मर्यादित गम्भीरता रही है, उनके प्रयोग भी एक युग के लिए नये अध्याय का उद्घाटन करते हैं किन्तु उनकी स्वय की रचनाएँ वर्ग-उन्मूलन की अतिवादिता मे पडकर अपने वास्तविक स्तर से हट गई हैं और यही कारण है कि अन्त में चलकर वह 'अर्चना' के गीतों मे विशुद्ध शास्त्रीयता की ओर उन्मुख हुए है। 'अर्चना' में भाव, छन्द, शब्द, ध्वनि के प्रयोग अधिक सफल इसलिए हुए है क्योंकि अतिवादी विकृतियाँ उसमे नहीं हैं। उसमे विशुद्ध मानवीय भावनाएँ हैं जो रागात्मक भावनाओ का प्रतिनिधित्व करती है। स्वय 'कुकुरमुत्ता' मे जहाँ भावावेश ढीला पडता है, कविता शिथिल हो जाती है। केवल आक्रोश कविता के लिए अपेक्षित नहीं है, उसके लिए तो अनुभूति और निश्चित दृष्टि (Vision) चाहिए।

निराला जी जिस समय इस अतिवादी प्रवृत्ति से विलग होकर 'अर्चना' के कवि के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत हुए उस समय भी वह पुराने रूमानी स्तर को नही ग्रहण कर सके, न वस्तु-स्थिति और वस्तुवाद की व्यापक पृष्ठभूमि को ही अपना सके, इसलिए 'अर्चना' नवीन प्रयोग होते हुए भी बादल-राग की ध्वनि और शक्ति को अपने अन्दर नहीं सँजो पाई है। यह प्रवृत्ति, जो 'नये पत्ते' और 'बेला' मे बाह्य रूप में मौजूद मिलती है, 'अर्चना' मे अन्तर्मुखी रूप धारण कर लेती है और यह अन्तर्मुखी भावना घोर व्यक्तिवादी सीमाओं मे फँसकर एजरा पाउण्ड की कृतियो की भाँति व्यक्तिगत बिम्बों और भावनाओ में बँधकर गूढ और अस्पष्ट बन जाती है।

नवीन, बच्चन और नरेन्द्र प्रमुखतः रूमानी कवि है जिनको मुख्य रूप से गीतकार कहा जा सकता है, किन्तु नवीन जी की परोक्षवादी भावना बडी ही दुर्बल रूप मे व्यक्त होती है और उनकी आधुनिकतम रूमानी भावना भी दिग्भ्रम के कारण रीतिकालीन तत्त्व ग्रहण कर लेती है जिसमें केवल रूढिवादिता के सिवाय कुछ शेष नहीं बचता। बच्चन का सफल कवि जब वस्तुवाद का आवरण ओढ़ लेता है और 'बगाल का काल' अथवा 'खादी के फूल' की रचना करता है तो वह इतना खोखला नारेबाज बन जाता है कि उसकी सारी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। बच्चन की फिर भी एक विशेषता रही है कि अपनी वास्तविक भावभूमि से वह बहुत कम भटके हैं और अपने को अतिवादी बनने से उन्होने काफी बचाने की चेष्टा की है किन्तु इधर उनकी फुटकर रचनाएँ जो प्रकाशित हो रहीं हैं उनमें तो एक भयकर तूफान है जो उनकी निजी दिशा न होने के कारण सरकते हुए पारे के समान ऊपर-नीचे खिसकता-सा प्रतीत होता है। लेकिन बच्चन का भविष्य कुछ कहा नही जा सकता, क्योंकि उनकी सम्भावनाएँ अपरिमित हैं।

इसके विपरीत नरेन्द्र निश्चय ही तथाकथित प्रगतिवादी प्रवृत्ति से हटकर अध्यात्मवादी

बनने में अपना कवि समाप्त करने लगे। नरेन्द्र की इधर की कविताएँ घोर अन्तर्मुखी या उपदेशात्मक रूप में प्रस्तुत हुई हैं जिसके कारण उनका व्यक्तित्व नष्ट हो चुका है। ऐसा लगता है कि इस भाग-दौड़ की दुनिया मे नरेन्द्र के भावना-प्रधान व्यक्तित्व में किसी ने भारी पत्थर बाँध दिया है जिसके कारण वह दौड़ तो नहीं पाते, किन्तु निश्चय ही उस गले पड़े पाहन को पूज-पूजकर ईश्वर बनाने पर तुल गए हैं। इस प्रवृत्ति में भी नरेन्द्र उतने ही हल्के कवि हैं जितने कि 'लाल निशान' में हैं और यह भ्रमण उन्हे किस दिशा मे ले जायगा, यह भी स्पष्ट नही है।

अंचल जी स्वभावतः गीतकार हैं। जहाँ अंचल को प्रणय-सम्बन्धी गीतों मे सफलता मिल सकती थी वही आज वह अपनी स्वाभाविक भाव-भूमि के अभाव में सस्कार-च्युत होने के कारण एक बहुत बड़ी असफलता को अपना बैठे हैं। यही कुछ शम्भूनाथसिंह के 'मन्वन्तर' काव्य-सग्रह में भी है। बच्चन के बाद गीत-काव्य मे जिस तेजी से शम्भूनाथसिह बढ रहे थे और उस दिशा मे जिस बड़ी सफलता की आशा उनसे की जाती थी, 'मन्वन्तर' उसे भ्रमपूर्ण सिद्ध करता है। 'समाजवाद' के सिद्धान्तों को गद्य में भी लिखा जा सकता था। उसके लिए अपनी स्वाभाविक गीत-शैली को छोडकर व्यर्थ के लिए मुक्त छन्दो मे कुछ बातें कहना भी इस बात को सिद्ध करता है कि कवि सस्कार-च्युत होकर व्यर्थ के झंझटो मे पड़कर अपनी स्वाभाविकता नष्ट कर बैठा है। अंचल आज भी अपनी वास्तविक स्थिति की भाव-भूमि नहीं अपना सके है। शम्भूनाथसिंह अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित और सबल भावना का निर्वाह नये गीतो मे कर रहे है और यह आशा की जाती है कि उनके भीतर की ग्रन्थि धीरे-धीरे साफ हो रही है और वह अपनी वास्तविक गीत-शैली को पुनः ग्रहण करने मे सफलता प्राप्त कर रहे है।

विशुद्ध प्रगतिशील कवियों मे नागार्जुन और केदार अग्रवाल की रचनाओं में एक प्रकार की रूढि का भास मिलता है जिसको जबरदस्ती अपने ऊपर लादने में उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। केदार मे नागार्जुन से अधिक सफल कवि होने का तत्त्व है लेकिन वह जिस यथार्थ को चित्रित करने का प्रयास करते हैं, वह स्वय उनके व्यक्तित्व को विभाजित करता है। उनका मसीहा स्वय ही इतना पीडित है कि उसकी असफलता और रुग्णता उनकी रचनाओं मे अनायास ही झलक जाती है। नागार्जुन 'फौजी' (Militant) कवि हैं। वे अगर अर्जी दावा भी लिखेंगे तो उसे कविता मे कहने में नहीं हिचकिचायँगे। यही कारण है कि 'सिन्दूर तिलकित भाल'-जैसी सुन्दर कविता की रचना करने वाला जब 'भुस भरा पुतला' या 'चना जोर गरम का लटका' भी लिखने का प्रयास करता है तो उसकी सारी बौद्धिक चेतना और अनुभूति-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। यदि देखा जाय तो केदार भाव-क्षेत्र मे असगत रूढियो में उलझकर सस्कार-च्युत हो जाते हैं। नागार्जुन भी जबरदस्ती अपनी कविता को फौजी जामा पहनाकर उसकी स्वाभाविकता नष्ट कर देते हैं। नागार्जुन की अधिकाश कविताओं में इसी 'बौखलाहट' और भौंडेपन का परिचय मिलता है।

इस दृष्टि से दो सप्तकों में प्रकाशित कविताओं का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहले सप्तक के सात कवियों मे से प्रायः सभी मध्यवर्गीय कवि हैं और यद्यपि वक्तव्यों में अपने को प्रगतिशील मानते हैं फिर भी सर्वप्रथम वे मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और फिर किसी और 'वाद' का। सभी कवियों में एक आन्तरिक विघटन है, किन्तु वस्तु-स्थिति और काव्य-कला के प्रति ईमानदारी है और प्रायः सभी सामाजिक तत्त्वों को अपने वर्ग की दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं। जहाँ

और जिस भी कवि ने अपनी वर्ग-भावना की अवहेलना करके बढ़ने का प्रयास किया है वहाँ उसकी असफलता भी स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। सभी पीड़ित और व्यथित हैं किन्तु व्यथा को चित्रित करने में वह ईमानदार हैं :

क. "मेरे बाल-मन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुःख, इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।"

—गजानन मुक्तिबोध

ख. "मेरा विश्वास है कि सौन्दर्य का आकर्षण पलायन की ही प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता किन्तु सौन्दर्य की अनुभूति तो जीवन्तता का, जीवन की स्वीकृति का एक महत्त्वपूर्ण चिह्न है। जिस व्यक्ति में सौन्दर्य-बोध अत्यन्त क्षीण है वह कहाँ तक जीवित कहा जायगा यह कहना कठिन है।" ..

—नेमिचन्द्र जैन

जब यह कवि अपनी कला की बात करते हैं तो .

क "मैं कलाकार की स्थानान्तरगामी प्रकृति पर बहुत जोर देता हूँ, कला का केन्द्र व्यक्ति है पर उसी केन्द्र को अब दिशा-व्यापी करने की आवश्यकता है . .."

—गजानन मुक्तिबोध

ख. " स्वभाव से ही कला मानव-मुक्ति का आलोक है इसीसे आज निरा कवि कोई कलाकार नही—"

—नेमिचन्द्र जैन

इन दोनों कवियों के कथन और कृतित्व मे एक अन्तर्विरोधी भावना है। गजानन मुक्ति-बोध की निराशावादी, व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी चेतना बड़ी सबल रूप से उभरकर व्यक्त हुई है। उनकी निराशा व्यक्तिगत है लेकिन वह उसको सामाजिक जीवन पर उतारकर फेंक देना चाहते हैं। अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों मे वे इतने उलझे हुए है कि उनकी सौन्दर्यानुभूति घुटकर रह जाती है और यह सब इसलिए है क्योंकि वह कला को, साहित्य को और जीवन को एक भिन्न मापदण्ड से देखते हैं जिसको अपनी कृति मे साकार कर सकने की क्षमता उनमें नहीं है। मध्यवर्गीय जीवन और घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी वह विश्व-मानव, 'विश्व-चेतन' और इस प्रकार की अन्य आदर्शवादी मान्यताओ मे बँधे हुए हैं।

नेमिचन्द्र जैन की वैयक्तिक कविताओ मे सौन्दर्य, काव्य-गुण और भावनाभिव्यक्ति का सफल चित्रण है लेकिन जहाँ वह एक मत विशेष का प्रतिपादन करते हैं वही उनका शिल्प लचर और कवि दुर्बल हो जाता है। 'कवि गाता है' शीर्षक कविता में यद्यपि वह बड़ी जोर-जोर से यह कहना चाहते हैं कि "कवि गाता है . 'वह कलाकार है .. 'व्याकुल मानवता की सस्कृति की रक्षा का .. उसके ऊपर आज भार है "किन्तु इस भार से उनका कवि लद गया है, क्योंकि वहीं जब बिना सजग चेष्टा के "डूबती सन्ध्या" मे "अनजाने चुपचाप" .. "इस क्षण में" लिखने बैठते है तो उनमें उनकी सौन्दर्य-भावना, उनका कला-बोध अधिक सुगठित रूप से व्यक्त होता है।

किन्तु उसी सग्रह में दो उच्च कोटि के भी कवि हैं। गिरिजाकुमार माथुर की कविता इस दृष्टिकोण से सफल है। विषय-शिल्प, व्यजना-शक्ति और आत्मानुभूति के तत्त्व उनकी कविता में

ईमानदारी से रखे गए हैं। भारतभूषण अग्रवाल की सजग प्रगतिशीलता और प्रभाकर माचवे के चमत्कारिक प्रयोगों की अपेक्षा गिरिजाकुमार माथुर की रचनाएँ प्रभावपूर्ण और हृदयस्पर्शी हैं। प्रतीकों और बिम्बों का प्रतिपादन भी उनकी शिल्प-निपुणता का परिचायक है। जहाँ 'बुद्ध', 'विजय दशमी' और 'क्वार की दोपहरी'-जैसी रचनाएँ उनके 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण का परिचय देती हैं वहाँ 'चूडी का टुकडा' और 'ऐसोसिएशंस' मे आत्म-पक्ष का भी परिचय मिलता है।

अज्ञेय इनसे भी अधिक जागरूक हैं। अज्ञेय यह मानते हैं कि "मैं स्वान्तःसुखाय नहीं लिखता, · कोई भी कवि केवल मात्र 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने-आपको असमर्थ पाया है।" किन्तु यह होते हुए भी अज्ञेय जी आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व कम नहीं मानते और इन दोनों का सन्तुलन भी अभीष्ट है, क्योंकि "समस्याएँ अनेक हैं काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, सवेदना के पुनःसस्कार की, आदि किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है क्योंकि यह कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, *साधारणीकरण और निवेदन की समस्या है।*' बाद में भी कवि रूप मे अज्ञेय और गिरिजाकुमार माथुर का ही सतत विकास होता चलता है और 'हरी घास पर क्षण भर' में अज्ञेय की कविता अपने पूर्ण निखार पर पहुँचती है। वे कुण्ठाएँ जो 'नदी के द्वीप' मे हैं, 'हरी घास पर क्षण भर' उनसे बहुत-कुछ मुक्त है।

जहाँ पहले सप्तक के कवियों में पथ की अनिश्चितता, दुरूहता का आतक और दिग्भ्रम का दोष है, वहाँ दूसरे सप्तक के कवियो में जीवन के प्रति यह भ्रम नहीं है। उनको अपनी स्थिति का ज्ञान है और अपना पथ भी मालूम है और इसीलिए दूसरे सप्तक के कवियों मे वह आत्म-हीनता नही है। उनका वस्तुवाद तथा उनकी सास्कृतिक चेतना अधिक स्पष्ट है। वे परिस्थितियों को समझ चुके है, इसलिए न तो वे अपनी वर्गहीनता का मरसिया पढते हैं और न किसी विशेष वाद पर कसीदा लिखते हैं, वे वस्तु-सत्य को स्वीकार करके, उनको व्यग्य से सजीव रूप में ग्रहण करते है और इसीलिए उनमे 'कुण्ठाएँ' नही हैं। कविता के तत्त्व भी इन कवियों मे अधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है। इन बातों से भी अधिक तत्त्व की बात यह है कि यह राजनीतिक नारो के और साहित्यिक कृतित्व के भेद को समझते हैं :

१ "कभी कोई दर्शन, वाद या जिसे टैकनिक कहते हैं मैंने नहीं सोचा।"

—*भवानीप्रसाद मिश्र*

२. "और अन्त में यह कि कविता जीवित हो, अर्थात् वह जीवन के वास्तविक वातावरण और परिस्थितियो की जमीन पर जन्म ले ···"

—*शकुन्तला माथुर*

३. "कविता एक सपनों का ससार है और यह ससार यदि नये जीवन के क्रीड़ा-स्थल नये जगत् की रगीनी से सिक्त हो तो कवि का कर्म और उसका सामाजिक दायित्व सार्थक हो जाते हैं।"

—*हरिनारायण व्यास*

४. "टूटते हुए मध्य-वर्ग के मुझ-जैसे कवि उस भेद को, जहाँ वह है वहीं से पा सकते हैं, वे उसके पाने की कोशिश में लगे हुए हैं। कविता में हम अपनी भावनाओं की

सचाई खोजते हैं। उस खोज में उस सचाई का अपना खास रूप भी हमें मिलना ही चाहिए जिस हद तक भी मुमकिन हो, क्योंकि किसी भी चीज का असली रूप उस चीज से अलग तो सम्भव नहीं।"

—शमशेर बहादुर सिंह

५. "संस्कृति भ्रामक शब्द है। फिर भी संस्कृति की शोध तो की ही जा सकती है और हम मनुष्य के आदि काल के काव्य से भावों की विराटता ग्रहण करके सुन्दर कल्पना-प्रधान साहित्य रच सकते हैं। क्योंकि किसी भी प्रकार के प्रभाव से लिखी गई कविता को द्वितीय श्रेणी का काव्य कहना होगा और यह द्वितीय वाली बात मुझे नहीं पसन्द है।"

—नरेश मेहता

६ "मगर मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह चढाया नहीं जा सकता। उसके लिए मध्यवर्गीय, धोखा खाने वाले ढुलमुल यकीन को, अपनी बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रहकर एक दृष्टिकोण बनाना होगा।"

—रघुवीर सहाय

७ " 'कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ अर्थों मे रसोद्रेक-मात्र न रहकर प्रभाव डालना हो गया है जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है, भारती वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को अभी अंशतया ही स्वीकृत कर पाया है, कहाँ किस अंश तक, यह प्रसंगान्तर की बातें हैं। सीधी सादी बात यह है, भारती कविता मे किसी भी विषय को उठाये बिना नहीं रह सकता, बशर्ते वह जीवन और अनुभूति की लय से मेल खाता हो। लेकिन ऊपर से कुछ भी थोपना-लादना भारती प्रतिभा की पराजय मानता है और साहित्य की राजनीतिक गुलामी को तो सरासर फासिज्म।"

—धर्मवीर भारती

यही कारण है कि प्रथम सप्तक मे कलाकार के प्रति एक अनास्था है जो दूसरे सप्तक मे नहीं शेष रही है। भारती की "कविता की मौत", "सृजन की थकान भूल जा देवता" आदि में एक आस्था का स्वर मिलता है। अपनी आत्माभिव्यक्ति के प्रति भी दूसरे सप्तक के कवि मे अधिक आत्म-विश्वास है। जैसा शमशेर कहते हैं :

बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही।

दूसरे सप्तक के लगभग सभी कवि आतंक से दूर हैं। उनकी सांस्कृतिक और मानवीय संवेदनाओं में स्पष्टता और गम्भीरता है। प्रथम सप्तक के रामविलास शर्मा के 'सत्य, शिव, सुन्दरम्'' के व्यंग्य को लीजिए और भवानीप्रसाद मिश्र के 'गीत फ़रोश' को लीजिए तो यह बात सिद्ध होगी कि दूसरे सप्तक के कवि अधिक स्पष्ट और सत्य के मर्मज्ञ हैं।

लेकिन इसके विपरीत जहाँ कहीं भी अपने वर्ग से अलग किसी कल्पित वर्ग-भावना को ओढ़ने की चेष्टा की गई है वहाँ कविता केवल पद्य बन गई है :

वाम वाम वाम दिशा
समय, साम्यवादी
पृष्ठभूमि का विरोध
अन्धकार, लीन व्यक्ति
कुहाऽस्पष्ट हृदय, भार आज दीन
हीन भाव, हीन भाव, हीन भाव,
मध्य वर्ग का समाज दीन।

(शमशेर)

शमशेर बहादुर सिंह में ऐसी प्रवृत्तियों का स्थान-स्थान पर परिचय मिलता है। उनके विचार और काव्यानुभूति के बीच एक खाई है जो उनके व्यक्ति और आदर्श को विभाजित कर देती है और वह अपने ही में उलझकर रह जाते है। वस्तुत' जिन रोमांटिक और क्लासिकल भावनाओं को शमशेर जी अपनी आत्मा मे अनुभव करते हैं, जब उनसे पृथक् वह नागार्जुन की शैली का प्रयोग करने की चेष्टा करते हैं तो केवल नारों तक ही रह जाते है। जैसे :

साम्राज्य पूँजी का क्षत होवे
ऊँच-नीच का विधान नत होवे
साधिकार जनता उन्नत होवे
जो समाजवाद जय पुकारती।

उपर्युक्त पद्यांश में अनुभूति कुछ नहीं है। अभिव्यक्ति मे शमशेर जी की शिल्पगत शैली भी नही है। केवल एक ऐलान है जिससे कोई असहमत नहीं हो सकता, किन्तु जिससे कोई प्रभावित भी नही होता। शमशेर की संस्कार-च्युत, वर्ग-उन्मूलित भावना उनकी गजलो और रूबाइयो को नही प्रभावित कर पाती और वैसे उनकी दूसरी कविताओ मे भी यह प्रवृत्ति कम है लेकिन जहाँ उन्होंने जबरदस्ती इस भावना को ठूँसना चाहा है वहाँ उनको निश्चय ही असफलता भी मिली है।

भवानीप्रसाद मिश्र का दूसरे सप्तक मे वही स्थान है जो प्रथम सप्तक मे गिरिजाकुमार माथुर का है। 'गीत फरोश' में उनका कवि ही अधिक उभरता है, प्रचारक नहीं। भवानीप्रसाद मिश्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी केवल इसलिए कर पाए हैं क्योंकि इन गीतो मे उनकी आत्मानुभूति आत्मपरक (Subjective) है। अन्य कवि वस्तु-दृष्टि (Objectivity) के पीछे इतने पड़ जाते हैं कि उनकी आत्माभिव्यक्ति उसमें खो जाती है।

नरेश मेहता की कविता 'समय देवता' इस वस्तु-दृष्टि (Objectivity) की असफलता का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है, जिसमें विषय-वस्तु का तो पता नहीं चलता अलबत्ता उसमें अनावश्यक रूप से मानवीय संस्कृति की शोध की चेष्टा अवश्य की गई है जो असंगत और विशृङ्खल है। समस्त संसार का एक भौगोलिक चित्रण जहाँ बड़ा ही सफल और काव्यात्मक शैली में व्यक्त हुआ है वहीं उसकी भावभूमि की शिथिलता उसे फीका बना देती है। भारत का चित्रण करते हुए कवि को केवल 'फसल जल रही, मनुज मर रहा' ही दिखलाई पड़ता है। वर्ग-उन्मूलित, कुण्ठित कवि-भावना को भारत में के केवल :

कलकत्ते के फुटपाथों पर
मनुज खून में लथपथ डूबा, अपनी सारी संस्कृति से ऊब-ऊब

आस्मान का गट्ठर बाँधे चला आ रहा पूर्व क्षितिज में
शुतुर्मुर्ग की टाँगों-जैसा नंगा-नंगा
धर्म-घृणा की इस ज्वाला में जले-भुने वे देव स्वर्ग में मनुज धरा पर
आज मात्र शरणार्थी बन गये

नरेश मेहता की एकागी अनुभूति ने एक ओर चीन और रूस की प्रशस्तियाँ लिखने मे कोष-का-कोष रिक्त कर दिया है किन्तु भारत की स्थिति में उन्हे केवल खून और लूट-मार ही दिखलाई पड़ा। इस खून और लूट-मार में भारतीय आत्मा की जो एक स्वर-सिद्धि अपनी छाती पर समस्त कल्मष को झेलकर भारतीय सास्कृतिक एकता को अमरत्व प्रदान कर गई उसका नाम तक नहीं लिया गया। यदि लेनिन की हुङ्कार कोटि कण्ठों की पुकार बन सकती है तो आज गाधी की आवाज और गाधी का प्रदर्शित किया हुआ मार्ग विश्व-विध्वस की विभीषिका को शान्त कर सकता है, कोरिया की जनता को मुक्ति दे सकता है, किन्तु कवि उन भारतीय सस्कारो से च्युत है, अपने देश में प्रवासी है और अपनी जड़ें खोजता हुआ दुनिया-भर मे भटकता है।

अज्ञेय ने अपने वक्तव्य में जिन पाँच बातो को उठाया है उनके सम्बन्ध में पिछले सप्तक के वर्ग-उन्मूलित कवियो की स्थापनाएँ आज मिथ्या सिद्ध हो रही हैं। जहाँ तक 'सामाजिक उत्तरदायित्व' का प्रश्न है, आज मानवात्मा की सूक्ष्म सवेदनाओं के प्रति उभरते हुए नये कवियों में उत्तरोत्तर जागरूकता बढती जा रही है। वह एकागी वाद-विशेष के माध्यम से वस्तुस्थिति को न देखकर एक व्यापक दृष्टिकोण को स्वीकार करते है। 'सवेदनाओं का पुन. सस्कार' जो प्रथम सप्तक के कवियों मे उलझकर व्यक्त हुआ है आज पहले की अपेक्षा मँजकर प्रकाश में आ रहा है। 'साधारणीकरण' और 'निवेदन' की कठिनाइयॉ पहले सप्तक में अधिक रही हैं। आज उसको समझने की प्रवृत्तियाँ भी पहले से अधिक मात्रा में है, क्योंकि आज का प्रयोग केवल प्रयोग के मन्तव्य को लेकर नहीं चल रहा है वरन् उसमें नई शक्ति और निवेदन के सफल नियोजन की भावना भी विकसित हो रही है। आत्मानुभूति और आत्माभिव्यक्ति मे ईमानदारी की मात्रा अधिक होती जा रही है। यही स्थल ऐसा है जहाँ नई कविता के लिए आशा का सञ्चार होता है और उसके भविष्य में विश्वास जमने लगता है।

प्रादेशिक साहित्य

तिο शेषाद्रि

तमिल भाषा और साहित्य की समस्याएँ

तमिल भाषा हिन्दी की तुलना मे बहुत प्राचीन है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि तमिल भाषा संस्कृत से भी पुरानी है किन्तु यह केवल धारणा मात्र है, इसका कोई भी वैज्ञानिक प्रमाण नही मिलता, क्योंकि सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो मिलता है वह "तोलकाप्पियम" नामक व्याकरण है और उसमें भी सस्कृत के शब्द मिलते हैं। अतः शुद्ध तमिल का आन्दोलन चलाने वाले परेशान हैं कि वे कोई ऐसा तमिल का ग्रन्थ नही निकाल पा रहे हैं जिसके आधार पर यह साबित कर सकें कि तमिल सस्कृत से पुरानी भाषा है।

पर यह बात भी सही है कि तमिल आर्य-कुल की भाषाओं से भिन्न द्रविड़ कुल की भाषा है। यह भी दावे के साथ कहा जा सकता है कि सस्कृत शैली या शब्दावली से अछूती तमिल भाषा में किसी भी विषय पर घण्टों बोला जा सकता है या बड़ी-बडी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, लेकिन यह हुआ नहीं कि तमिल सस्कृत भाषा तथा साहित्य से अछूती रहती। जो हो आज स्थिति यह है कि तमिल भाषा तथा साहित्य दोनों सस्कृत भाषा व साहित्य से खूब प्रभावित हैं। तमिल भाषा में बहुत से सस्कृत शब्द इस तरह घुल-मिल गए हैं कि सश्रम प्रयास करने पर भी उनकी जगह तमिल के शब्द नहीं बैठ पाते। इसका प्रमुख कारण यह है कि सस्कृत शब्दों का युगो से व्यवहार होता रहा है। सस्कृत ब्राह्मणों की प्रिय भाषा रही है जो समाज और साहित्य के नेता रहे हैं। ब्राह्मण द्रविड़ समाज के नेता कैसे बने, इसकी कथा बड़ी विलक्षण है। इसके लिए उत्तर और दक्षिण की सस्कृतियो के पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टि डालनी होगी। वैसे तो आज दोनों सस्कृतियाँ घुल-मिलकर एक हो गई हैं किन्तु प्रारम्भ मे दोनों में कुछ विशेषताएँ और विलक्षणताएँ थीं जो एक-दूसरी को पृथक् करती थी। उत्तर की आर्य-सस्कृति धर्ममूलक थी जो ईश्वर, उसके विविध रूप और उसकी निस्सीम शक्ति पर विश्वास करती थी, ब्राह्मणो या पुरोहितों के महत्त्व पर जोर डालती थी और जन्म से ऊँच-नीच मानने की प्रवृत्ति रखती थी। (किन्तु यहाँ यह कह देना चाहूँगा कि यह अन्तिम प्रवृत्ति उस जगह पर आज ज्यादा नही पाई जाती जहाँ से इसका जन्म हुआ, वरन् उसी दक्षिण में जोर पकड़े हुए है जहाँ इसके प्रति घोर विरोध तभी से आज तक किया जा रहा है।)

इसके विपरीत मूल द्रविड़ सस्कृति नैतिकता पर जोर डालती थी, प्रकृति के नियम को मानती थी और जन्म से किसी को ऊँच, किसी को नीच मानने की प्रवृत्ति उसमें नहीं थी। अब

भी तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य मे आपको कहीं भी इस जाति-बन्धन का उल्लेख तक नहीं मिलेगा।

ये दो परस्पर-विरोधी सस्कृतियाँ एक-दूसरे के निकट आईं। सस्कृत भाषा की सशक्तता या आर्यों की सबलता, या द्रविडों की उदारता, या आर्य-द्रविड़ दोनो जातियो की सद्भावना के कारण दोनों सस्कृतियाँ बहुत निकट आईं और कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ आर्य-सस्कृति द्रविड़-सस्कृति पर हावी हो गई। तमिल भाषा का रूप बदला, साहित्य की दिशा बदली और समाज-सगठन का ढाँचा दूसरा हो गया। पर यह बात नही भूलनी चाहिए कि परिवर्तन होने पर भी अन्दर-ही-अन्दर कुछ हद तक वे पुरानी चीजे अपने अन्यतम रूप मे ही रहती आईं। इसी मिलन मे वहाँ की भाषा-सम्बन्धी या साहित्य-सम्बन्धी आदि समस्याओं की जडें हैं, जो हिन्दी-भाषा की समस्याओं से बहुत मेल खाती है।

तमिल की समस्या के बारे मे सोचते वक्त तीन बातो का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) दक्षिण भारत उत्तर की उथल-पुथल से काफी परे था। उत्तर भारत में परिस्थितियाँ ऐसी आई हैं कि लोगो को मजबूर होकर अपनी भावनाओ, मान्यताओ, विश्वासों पर पुनः सोचना पड़ा और उनमे बार-बार परिवर्तन लाना पडा, बाहरी आक्रमण भी काफी हुए और सघर्ष-स्थल यही उत्तर रहा। बहुत से राज्य उठे और गिरे। भिन्न मतावलम्बियों के क्रूर सघर्ष से जहाँ एक कट्टरता आई वहाँ यह विवशता भी कि लोगों ने एक-दूसरे से निभाने के लिए अपनी धार्मिक भावनाओ को आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन से विशाल बनाया। पर दक्षिण मे इतनी लड़ाइयाँ नहीं हुईं। हुई भी तो भाई-भाई की लड़ाई जिसमे पिता की मान्यताओ पर आघात न करने का पूरा प्रयास किया जाता था। इस भावना का अच्छा उदाहरण आपको एक सन्धि-कालीन पद्य के एक अश के अनुवाद मे मिल जायगा। एक राजा की प्रशसा मे एक पुलवर (चारण) ने कहा कि "हे राजा! तुम नीति के सिद्धान्तो के इतने हिमायती हो कि जब कभी तुम लड़ाई पर जाते हो तो पहले ही यह घोषणा कर देते हो कि गाये, गायों के समान सीधे-सादे ब्राह्मण तथा अन्य लोग, जिनका पालन आवश्यक है, वे सब गढ के अन्दर ही रहे, मैदान मे न आयें।" इस प्रकार लड़ाई भी होती थी तो सस्कृति का सरक्षक और पिता—ब्राह्मण—अवश्य बचा लिया जाता था।

(२) दूसरी बात यह है कि दक्षिण मे पढने वाला दल ही अलग बन गया था। यानी सस्कृत जब देव-भाषा बनकर आई तो पढने-पढाने का काम ब्राह्मणों को सौंप दिया गया। उनका काम था देव-भाषा का अध्ययन करना और समाज का नेतृत्व करना। उनके मुख से जो भी बातें निकलीं वे वेद-तुल्य मानी जाने लगी और सभी उसके अनुचर बने। यहाँ तक कि उनके लिए अध्ययन-अध्यापन को छोडकर दूसरा काम करना ही अनर्थमूलक समझा जाने लगा। आज भी यदि ब्राह्मण पुलिस का सिपाही बनता है तो दक्षिण के लोग विस्मय से देखते हैं।

(३) तीसरी बात यह है कि आर्य-सस्कृति और द्रविड़-सस्कृति का मिलन एक अधबिच समझौते के रूप मे हुआ। पण्डिताई, पुरोहिताई तथा अध्ययन-अध्यापन का काम करने वाले ब्राह्मण ऊँचे समझे जाने लगे और बाकी सब आपस में ऊँच-नीच नहीं मानते थे। इसलिए आज भी दक्षिण में क्षत्रिय-वैश्य के वर्ग आपको स्पष्ट रूप से नही दिखाई देते। ब्राह्मण, उसके बाद शूद्र। सभी शूद्र कहे गए। यह भी एक अनर्थकारी बात सिद्ध हुई। समाज के एक विशाल

अंग को शूद्र कहकर नीच कहा गया तो उनको भी अपनी ऊँच-भावना को तृप्त करने का एक ही रास्ता मिला और वह यह कि उन्होंने अन्त्यजों पर रौब जमाया, उनको नीच बनाकर दूर रखा।

अब इन तीनों बातों के आधार पर तमिल भाषा की आज की समस्याओं पर विचार करना चाहिए। भाषा का रूप स्थिर करना सस्कृत-शिक्षित लोगों के हाथ मे आ गया था। सस्कृत का गुण ऐसा ही है कि वह अज्ञात रूप से भी अपना रग दूसरी भाषा पर चढा देती है। आश्चर्य नहीं कि तमिल भाषा सस्कृत के शब्दो से भर गई और तमिल का रूप ही बदल गया। भाषा के रूप के अलावा सस्कृत-साहित्य की भी एक विशिष्ट देन थी ईश्वरीय भावना, धार्मिक-विश्वास और विधि के विधान पर अटूट भक्ति और उनके अवश्यम्भावी फल। सस्कृत-शिक्षित लोगों ने "ग्रन्थम्" नामक वर्णमाला का भी आविष्कार किया, और "मणिप्रवाल" नामक शैली का भी, जिससे स्पष्टतः उनका संस्कृत-प्रेम लक्षित है। इन कारणों से तमिल का ऐसा रूप बन गया है कि कोई भी बाहर से देखेगा तो समझेगा कि तमिल भाषा सस्कृत का ही दूसरा रूप है। इससे हम असहमत है, किन्तु यह भूलना नहीं चाहिए इस तरह की शैली का व्यवहार करने वालो का उद्देश्य अखड भारतीयता का प्रचार तथा सास्कृतिक एकता को असम्भव बनाने वाली भाषा की दीवार को ढहाकर एक-दूसरे को निकट लाना था।

जब जमाना बदला और अँग्रेजी राज्य आया तो उन्होने इस स्थिति का फायदा उठाया। पढे-लिखे लोग सस्कृत-शिक्षित थे। उन्होंने अँग्रेजी भी सीखनी शुरू की और फिर भी समाज के नेतृत्व का काम उन्ही के हाथो मे आया। अब अँग्रेजी और सस्कृत पनपीं और तमिल भाषा उपेक्षित रहने लगी।

तमिल का भाग्य था कि ऐसी स्थिति बहुत दिन तक रह नही सकी। शैव-मठों ने तमिल की इस अवस्था में भी उसे नही भुलाया और बन्दिनी की अवस्था मे ही सही उसका पालन और पोषण किया। बाद मे अँग्रेजो की नीति भी बदली और उन्होंने जैसे उतर भारत में देशी भाषाओं की उन्नति स्वय करने का भार उठाया वैसे ही तमिल भाषा को भी प्रोत्साहन दिया। तब भी वही समस्या उठ खड़ी हुई जो उत्तर भारत मे उठ खडी हुई : हिन्दी-उर्दू का झगड़ा। तमिल का सस्कृत-विहीन रूप या सस्कृत बहुल रूप? अब सस्कृत की शिक्षा से वचित बहुत से लोग ऊपर आए और उन्होंने सोचा कि सस्कृत-शिक्षित दल ने, जिसमे ब्राह्मण ही ज्यादा थे, तमिल की इतनी दुर्गति करा दी। उन्होंने सस्कृत-प्रभाव के विरुद्ध आन्दोलन करना शुरू किया—उनमें कटुता और घृणा के भाव बहुत तीखे थे। उनका एक नमूना एक कवि के इन शब्दो मे पाया जा सकता है :

वडमोषि एन्नु उडै परिंलगै वारि एन् मीदु इरैक्कि श्रीर—

"सस्कृत नाम के टूटे काँच के टुकडों को मुझ पर फेंक रहे हो।"

इसमें एक-एक शब्द घृणा से भरा है—गुस्से से भरा है। वडमोषि या उत्तरीय भाषा! संस्कृत तक कहना कवि ने उचित नहीं समझा। मतलब है कि तमिल भाषा के शुद्ध रूप के ये पक्षपाती उस भाषा के सस्कृत-प्रभावित रूप से भड़क उटे और अपनी मातृभाषा को उस दयनीय स्थिति से मुक्त करना अपना कर्तव्य समझने लगे और उसी की सिद्धि मे ताल ठोककर अग्रसर हुए। ये "कम्बरामायण" से भी घृणा करने लगे, क्योंकि वह सस्कृत की लाई हुई आर्य-सस्कृति की समर्थक है!

जो हो, तीन दल अब भी दक्षिण में विद्यमान हैं : एक वह जो संस्कृत-बहुल भाषा का पक्षपाती है। दूसरा वह जो दूसरे छोर पर बैठा है और तमिल भाषा से संस्कृत के शब्दों को वैसे ही निकालकर बाहर फेंकना चाहता है जैसे जामुन के फल पर जमी धूल को उड़ाता हो। तीसरा वह दल है जो इन दोनों की एकागिता पर आप-ही-आप हँसता है और तमिल का एक स्वस्थ, सुन्दर रूप तैयार कर रहा है जिसमें ये अतिरंजनाएँ नहीं हैं, न वह पहले ही आए हुए शब्दों को दूर करने का प्रयास करता है, न संस्कृत के तत्सम शब्दों को लाकर 'सुस्थापित' करने की कोशिश करता है। इसी दल के हाथों सुन्दर तथा ठोस कार्य हो रहा है। यह दल आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत के ही क्या अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के शब्दों को भी ज्यों-का-त्यों लेने से इन्कार नहीं करता। इस दल की भाषा की आप हिन्दी की उस शैली से तुलना कर सकते हैं जो प्रेमचन्द की भाषा-शैली है।

दलों के भाषा-सम्बन्धी दूसरे सुधार पर भी ध्यान देना आवश्यक है। पद्य-काल के बाद गद्य-काल में पण्डिताऊ भाषा का जोर रहा, जिसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। हिन्दी में भी जब संस्कृत के गम्भीर शब्द-विन्यास का उपयोग होता है तो एक तरह की स्थूलता आ जाती है, जो सुन्दर नहीं लगती। उसके विपरीत बोल-चाल की वह शैली, जिसमें बातों को एक सहज-सुन्दर रूप से कहा जाता है, लोकप्रिय है। उसमें उर्दू का भी समुचित स्थान है तथा वाक्य विन्यास और शब्द चयन एक असर लिये हुए हैं। तमिल भाषा में वही शैली विकसित होती जा रही है।

अब साहित्य की ओर ध्यान दें।

पहले ही कहा गया है कि तमिल-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का खूब प्रभाव था। संस्कृत के उच्चतम ग्रन्थ तमिल मे अनूदित हुए। अब यह सयोग की बात है कि तमिल-साहित्य जहाँ बीच में अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित रहा अब फिर से संस्कृत की उतराधिकारिणी हिन्दी से प्रभावित हो रहा है। प्रेमचन्द की बहुत-सी कहानियो के अनुवादों ने तमिल भाषा की कहानी के अंग को पुष्ट किया। अब भी कहानियो मे प्रेमचन्द का प्रभाव देखने मे आता है। उसके बाद भी प्रेमचन्द ही के उपन्यास और अन्य कहानीकारो की कृतियाँ अनूदित हुई। यद्यपि बंगला, महाराष्ट्री साहित्य का भी प्रभाव है, तो भी हिन्दी का ही प्रभाव अधिक पड़ रहा है।

अब भी तमिल-साहित्य की तीन प्रवृत्तियाँ देख सकते हैं। एक शान्तिप्रिय दल साहित्य के उस अंग को पुष्ट करने मे लगा है जो साधारण मानवीय दुर्बलताओं या गुणों का विश्लेषण करते हुए प्रभावोत्पादक कृतियाँ तैयार करता है। उसका राजनीतिक हलचल से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं। यह दल समस्याओं से अपने को बचाते हुए भी लोकप्रिय साहित्य तैयार करता है। दूसरा दल, संस्कृत तथा उस भाषा की वारिस हिन्दी तथा उसके बोलने वालों से घृणा करता है तथा उत्तर भारत तथा दक्षिण को अलग-अलग संस्कृति का प्रदेश मानता है, और अपने को रावण की सन्तान मानकर घृणा तथा विद्वेष का साहित्य तैयार करता है। तीसरा दल, समस्याओं से नहीं कतराता वरन् उन पर गाधीवादी ढग से विचार करता है। पहले और तीसरे दल के हाथों जो साहित्य तैयार हो रहा है, वह आजकल लोकप्रिय है।

प्रगतिवाद के नाम से हिन्दी में जो साम्यवादी साहित्य तैयार हो रहा है उससे तमिल साहित्य आज कम प्रभावित है। पर सम्भावना इसकी जरूर है कि वह भी तमिल भाषा में उतर

आय। लेकिन स्वयं उत्तर भारत में भी साहित्य का वह रूप कई कारणों से सबल नहीं हो पा रहा है। दूसरी बात यह है कि यहाँ उत्तर भारत में प्रगतिवादी साहित्य के जड़ जमाने के पहले ही साहित्य में अन्य सशक्त प्रवृत्तियाँ उदित होने लगी हैं। अतः इसका दक्षिण में प्रचार होना अब असम्भव-सा लग रहा है।

फिर भी साम्यवादी विचार तो उधर भी हैं ही। पर उसका ठेठ अपरिष्कृत रूप दक्षिण को ग्राह्य नहीं। अतः वहाँ के साहित्य में साम्यवाद को समाजवाद तथा गांधीवाद के आधार पर संशोधित करके उसका एक अहिंसात्मक ग्राह्य रूप बना लेने का प्रयास स्पष्ट रूप से लक्षित है।

अब प्रश्न है कि क्या हिन्दी भाषा तमिल को अपना साहित्यिक प्रभाव देगी या तमिल हिन्दी को ? इसकी भी सम्भावना है कि दोनों का सर्वथा अलग विकास हो। हम यह मानते हैं कि दोनों के निकट आने में और एक-दूसरे से प्रभावित रहने में ही भारत का कल्याण है। अगर यह बात सर्व सम्मति से मानी जाय तो हिन्दी के लेखकों का एक कर्तव्य हो जाता है कि उनको तमिल प्रदेश की सच्ची स्थिति से परिचय प्राप्त करना चाहिए और भाषा के क्षेत्र में हिन्दी को वह शैली अपनानी चाहिए जिसमें संस्कृत के गम्भीर-से-गम्भीर शब्द ठूँसने का प्रयास न किया जाय—क्योंकि तमिल के अधिकतर लोग चाहे संस्कृत शब्द सुन-सुनकर उनके अभ्यस्त हो गए हों—तो भी वे मौलिक रूप से उनके परिचित नहीं हैं या वे शब्द उनकी भाषा के अक्षुण्ण अंग नहीं बने हैं।

साहित्य के क्षेत्र में भी हिन्दी को अपनी परम्परा का खयाल रखना चाहिए। अपनी धर्ममूलक संस्कृति की स्वस्थ परम्पराओं से अछूता साहित्य तैयार करने में हिन्दी के लेखक प्रवृत्त हो जायँ तो चाहे तमिल का वह संकुचित दल, जो आर्य-विरोधी है, उनका साथ दे—(इसकी भी सम्भावना नहीं क्योंकि वह दल तो अपने को रावण की सन्तान मान बैठा है) किन्तु अधिकांश लोग उनका साथ नहीं दे सकते। अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं से विच्छिन्न हिन्दी-साहित्य तमिल को प्रभावित नहीं कर सकता।

तमिल भाषा हिन्दी भाषा से अप्रभावित नहीं रह सकती। उसे ऐसा रहना भी नहीं चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में पहले ही वह निकट आ चुकी है और उसको उसी प्रवृत्ति को बनाए रखना चाहिए। दोनों भाषाओं के लेखकों को फिर से अपनी समस्याओं पर भारतीय दृष्टिकोण से सोचकर उचित साहित्य तैयार करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

साहित्य और ललित कलाएं

असितकुमार हालदार

शान्तिनिकेतन-कला-शैली

विकास गत्यात्मक होता है और जिस प्रकार राष्ट्र की प्रगति के लिए स्वशासन आवश्यक है, उसी प्रकार कला के विकास के लिए परम्परा का होना जरूरी है। दूसरों से उधार ली हुई कला, शैली तथा रसानुभूति से कोई प्रगति नहीं हो सकती। एक समय था जब कि विभिन्न प्रान्तीय उपभाषाओं के रहते हुए भी भारत की एक समान भाषा—संस्कृत—थी, जिसके द्वारा कि कला और साहित्य में भारत के आदर्श की अभिव्यक्ति का संस्कृति के अन्तर-प्रान्तीय क्षेत्र में प्रसार होता था। इसी प्रकार कलाकार की काल्पनिक एवं मानसिक अभिव्यक्ति के लिए भी भारतीय कला की एक ही भाषा थी और उसकी शैली एवं सिद्धान्त (ध्यान) भी समान था। यही कारण था कि चित्र-कला, मूर्ति-कला, नृत्य एवं साहित्य के क्षेत्रों में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एक अबाध सांस्कृतिक प्रगति हो सकी। उस समय कला आज की तरह कलकत्ता-निकाय (स्कूल), शान्तिनिकेतन-निकाय, बम्बई-निकाय, मद्रास-निकाय के रूपों में बँटी हुई नहीं थी। उस समय का कलाकार यूरोपीय दृष्टिकोण के अनुरूप फक्कड़ एवं अलमस्त न होकर योगी अथवा ब्रह्मचारी हुआ करता था। उसे अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए सतत साधना करनी पड़ती थी। उसके मार्ग प्रदर्शन के लिए वाल्टर पीटर, रस्किन, अथवा हरबर्ट रीड की तरह विद्वान् आलोचक नहीं थे। आध्यात्मिक एवं भौतिक अस्तित्व और कलाकार के बीच सेतु ही उसका मार्ग-प्रदर्शन करता था। अतएव भारतीय कलाकार किसी वस्तु को जैसी-की-तैसी चित्रित करने की अपेक्षा उसको चित्रित करने से पूर्व उसमें एकात्म हो जाता है। हिन्दू-बौद्ध-कला की इसी धार्मिक परिकल्पना के कारण प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के बीच एक खाई पड़ गई है। भारतीय कला के इसी सिद्धान्त ने प्राचीन एशिया के अन्य देशों—खोतन, मीरान, तुर्फान, जापान, चीन, बर्मा, तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया को प्रभावित किया। हम इस सिद्धान्त की तुलना केवल यूरोप की उस रहस्यवादी बैजेण्टाइन कला के सिद्धान्त से कर सकते हैं जिसका पादरियों ने सृजन किया था। इटली के पुनर्जागरण युग के दौरान में तथा यूरोप की आधुनिक कला में आज कला के वास्तविक रूप में परिवर्तन का कोई भी कारण रहा हो किन्तु भारतीय कला विक्टोरिया के युग तक अपने सिद्धान्त—कल्पना का अत्यधिक पुट—को जो दो सहस्र वर्षों से अबाध रूप से उसकी प्रेरणा-शक्ति रहा था, सुरक्षित बनाए रख सकी। इसके विपरीत—यूरोप में कल्पना को दासत्व ग्रहण करना पड़ा और कलाकार को अपनी कला-वस्तु को भौतिक पूर्णता देने के लिए मॉडलों

तथा 'बैठने वालों" की आवश्यकता पड़ने लगी। भारतीय कला में उस भौतिक दृष्टिकोण का कभी भी आविर्भाव नहीं हुआ। फोटोग्राफी के आविष्कार से यूरोप की यथार्थवादी कला की प्रगति में बाधा पड़ी। कला को प्राकृतिक अनुकृति से बचाने के लिए पाश्चात्य जगत् को नूतन कलाभिव्यक्ति की खोज करनी पड़ी और यूरोप की आधुनिक कला में अभिव्यक्तिवाद तथा अति-यथार्थवाद (सुररियलिज्म) इत्यादि का जन्म हुआ। यूरोप की आधुनिक कला प्रकृति के वास्तविक रूप में अकन के उन्मूलन के हेतु जान-बूझकर दी गई एक चुनौती के समान है और इसी कारण वह उस प्रणाली को, जो सार्वभौम थी, स्वीकार करने की अपेक्षा आदिम प्रागैतिहासिक तथा बालकों की कला एव उसकी शैली की शरण ले रही है। इस प्रकार इन परीक्षणात्मक रूपों में सत्व अथवा शान्ति का कोई अस्तित्व नही है। आज का यूरोपीय कलाकार तामसिक विचारों में उलझा हुआ है। इसी कारण कला-वस्तु मे शरीर-रचना के नियमों की अवहेलना की जाती है। उन्हे अप्सरा की अपेक्षा एक विकलाग वामन (बौना) अधिक ग्राह्य है। इसकी प्रतिक्रिया बायरन द्वारा की गई कला की समीक्षा से आँकी जा सकती है। बायरन ने लिखा है कि 'मेरे विचार में रूबेन बहुत बडा रग छोपने वाला है। मैं वान डाइक को उससे सैकड़ों गुना पसन्द करता हूँ। लेकिन यह भी सच है कि मैं इस बारे में जानता कुछ भी नही हूँ। रूबेन की सारी स्त्रियों के लबादे और कधे गहरे लाल रग के होते है। मैं उनकी गर्दनों के बारे में, जो आकर्षक होने की बजाय भारी भरकम अधिक होती है, कुछ नहीं कहूँगा। यह सब-कुछ सम्भवतः बडा सुन्दर है। मेरे विचार में यह कला हो सकती है, क्योंकि यह स्वाभाविक नही है।'

आधुनिक युग मे हम भारतीयो ने भी यूरोपीय सस्कृति एव शिक्षा से सम्पर्क के फलस्वरूप अपने कला के उत्तराधिकार को ऐसी ही विदेशी भावना से देखा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय विद्वानो एव विद्यार्थियो के लिए मूल भारतीय कला अपरिचित-सी ही बनी रही। शैली के क्षेत्र मे भी भारतीय कला छाया और प्रकाश तथा दृश्याकन की सुपरिचित पाश्चात्य शैली को न पा सकी। भारतीय चित्र बहिर-रेखा-मात्र होते थे, जिनमे एक-से रगों को भर दिया जाता था। उनमें त्रि-आयामिक फोटोग्राफिक अनुरूपता का, जैसी कि पाश्चात्य कला में हमे आम तौर पर मिलती है, सर्वथा अभाव रहता था। बगाल के विभाजन के समय एक महान् परिवर्तन आया, जिससे हमारे राजनीतिक एव राष्ट्रीय जीवन में एक नई जागृति उत्पन्न हुई।

जिस प्रकार कि राजनीतिक क्षेत्र मे महात्मा गाधी ने अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके भारतीय विचार-धारा को एक नई गति प्रदान की और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य, नृत्य एव संगीत-कला को भारतीय परम्परा पर आधारित एक नया जीवन एव आदर्श प्रदान किया, इसी प्रकार शिल्पी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन भारतीय कला-परम्परा की समुचित प्रेरणा से कला-क्षेत्र में नई जागृति का सूत्रपात किया। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि स्वयं अवनीन्द्रनाथ ने अपनी किसी प्रान्तीय कला को जन्म दिया था और उनका कृतित्व उन्हीं तक सीमित था और वह उनके प्रिय शिष्य डॉ० नन्दलाल वसु के साथ समाप्त हो जायगा। अवनीन्द्रनाथ ने भारतीय चित्रकारों को मॉडलों आदि के सूक्ष्म रूपाकन की सहायता से प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करने, मानव-आकृतियों तथा चित्रों को बनाने की पाश्चात्य शैली का अनुकरण करने से बचाया और उनके लिए एक सर्वथा नवीन मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने भारतीय चित्रकारों का अपने परम्परागत आदर्श के, जो मुख्यतया जीवन के विभिन्न पहलुओं एवं विषय-वस्तु की

व्यापक कल्पना पर आधारित था, मूल्याकन के लिए आह्वान किया। भारतीय कला एवं उसके आधार-सिद्धान्त के सम्यक् दिग्दर्शन के लिए अजन्ता सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

अवनीन्द्र ने अपने कृतित्व से यह दिखा दिया कि परम्परागत कला में भी जीवंत-शक्ति है और वह कलाकारों की अनेक पीढ़ियों को प्रेरणा प्रदान कर सकती है। यदि प्राचीन भारतीय कला का, जो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक लगभग २००० वर्षों से चली आ रही थी, उसकी समुचित पृष्ठभूमि में मूल्याकन किया जाय और हमारे कलाकार देश के विस्मृत-सिद्धान्तों की, जो भारत की अपनी विशेषताएँ हैं, पूर्ण मनोयोग से पुनः खोज करने का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयत्न करे तो हम वास्तव मे प्रगति कर सकेंगे।

अवनीन्द्र अपने इन विचारों से भारतीय कला के विभिन्न प्रान्तीय निकायों के बीच राज-नीतिक खाई पैदा नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपने शिष्यों से यह आम सकेत कर दिया था कि वे स्वय अपने गुरुओं का अध्ययन करें और अपनी मातृ-कला के भी उतने ही सुज्ञाता रहें जितने कि वे अपनी मातृ-भाषा के रहते हैं। तभी वे स्वानुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए अपनी सीमा के पार देख सकते हैं।

कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ टाकुर ने भारत के कला क्षेत्र में पुनर्जागरण उत्पन्न करने मे अपने भतीजे अवनीन्द्रनाथ के विकास को बड़ी दिलचस्पी से देखा था। इस महान् आन्दोलन का सास्कृतिक महत्त्व, उनकी पैनी दृष्टि से न बच सका। अतएव वे इन पक्तियों के लेखक को सन् १६११ में कलकत्ता मे अवनीन्द्रनाथ की देख-रेख मे अपनी कला-शिक्षा समाप्त कर चुकने को बाद ही शातिनिकेतन ले आए। डॉ० रवीन्द्रनाथ टाकुर ने लगभग १२ वर्षों तक अपने सगीत, कविता तथा साहित्य से लेखक को प्रेरणा प्रदान की। इस प्रकार शान्तिनिकेतन में कला-भवन की नींव पड़ी। आधुनिक भारतीय कला के बारे में कवि रवीन्द्रनाथ के विचारों को उनके एक पत्र से, जो उन्होंने लेखक को लिखा था, जाना जा सकता है·

"मैने यह चीज कभी पसन्द नही की कि हमारे विद्यार्थी अग्रेजी स्कूलो मे जायँ और वहाँ की छाप लेकर लौटें। इसका फल यही होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य उनकी अपनी प्रतिभा पर अपनी पसन्दगी की मुहर लगाता रहेगा। यदि हमारी कला रोथन्सटाइन की अनुचर हुए बिना समुचित मान्यता प्राप्त न कर सके तो वह ब्रिटिश साम्राज्य की रद्दी की टोकरी में ही पड़ी रहती है, क्योकि भाग्य उसे वहाँ पहुँचा देता है। अभी तक हम ब्रिटिश स्कूल-मास्टरो के छात्रो का ही पार्ट अदा करते रहे है, किन्तु स्कूल के कमरे के बाहर एक विस्तृत खेल का मैदान है जहाँ पर कि हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं। वहाँ पर भारतीय प्रतिभा की देवी का आगमन है और वह जिस व्यक्ति के मस्तक पर विजय का टीका लगाती है वही भाग्यशाली बन जाता है। इस सम्मान पर साउथ केनसिगटन स्कूल ऑफ आर्ट की मुहर नहीं लगती है।"

अवनीन्द्र और रवीन्द्र के बाद के भारतीय कलाकारो पर अति-यथार्थवाद (सुररियलिज्म) का, जो यूरोप की हाल ही की एक देन है, भारी प्रभाव पड़ा है और भय है कि यह हमें कहीं का भी न छोड़ेगा।

—अनुवादक : सुशील दीक्षित

शम्भुनाथ मिश्र

शान्तिनिकेतन की कला-शैली और छायावादी काव्य

शान्तिनिकेतन की कला-शैली आधुनिक भारतीय कला-शैलियों में एक विशिष्ट एवं स्थानीय लोक भावना से प्रेरित महत्त्वपूर्ण शैली है। उसका रवीन्द्र काव्य-धाराओं से व्यापक सम्बन्ध है। शान्तिनिकेतन के कलाकारों ने अपने तीस वर्ष के अनवरत परिश्रम तथा साधना द्वारा रवीन्द्र-काव्य-धारा एव अवनीन्द्र-चित्र-परम्परा का एक सगम स्थापित कर दिया है। शान्तिनिकेतन का निजी वातावरण रवीन्द्र-सगीत, रवीन्द्र-नाट्य एव रवीन्द्र-नृत्य की विभिन्न योजनाओं से पूरित रहा है। इस प्रेरणा में शान्तिनिकेतन के कला-भवन ने अपनी रचनात्मक आहुतियाँ प्रदान की हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ की चित्र-कला ने शान्तिनिकेतन की कला-शैली के प्रारम्भिक रूपो का नवसस्कार करके उसे शान्तिनिकेतन-कला-शैली के मौलिक क्षेत्र में रूपान्तरित कर लिया।

शान्तिनिकेतन-कला-शैली का प्रारम्भिक रूप क्या था, इस ज्ञान के निमित्त हमे आधुनिक भारतीय कला के नव जागरण की ओर ध्यान देना चाहिए। सन् १९०५ मे स्वर्गीय अवनीन्द्रनाथ टाकुर की प्रेरणा से कलकत्ता के आर्ट स्कूल में भारतीय चित्र-कला-विभाग की स्थापना हुई। उसमें आधुनिक चित्र-कला के प्रमुख आचार्यों ने शिक्षा प्राप्त की, जिनमे सर्वश्री नन्दलाल वसु, असित-कुमार हालदार, क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, शैलेन्द्रनाथ दे तथा वेंकटप्पा आदि थे। इसके अतिरिक्त १९०७ मे कलकत्ता की प्रसिद्ध सार्वजनिक सस्था 'इण्डियन सोसाइटी आफ ओरियण्टल आर्ट' की स्थापना हुई। इस सस्था के द्वारा अवनीन्द्र-शिष्य-परम्परा का वास्तविक विकास हुआ और भारतीय कला-सम्बन्धी नये आन्दोलन का व्यापक प्रचार हुआ। इस संस्था ने बहुत-से प्रकाशन-कार्य किये और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इस सस्था की भारी ख्याति हुई थी। इस प्रकार अवनीन्द्र-नाथ ने भारतीय कला-शैली का जो बीजारोपण कर दिया था उसमे रवीन्द्र काव्य-धारा भी अपेक्षित रही किन्तु उसमें प्रधानतः सस्कृत की प्राचीन काव्य-धाराओं की प्रतिष्ठा हुई थी। अवनीन्द्रनाथ ने कालिदास के काव्य-ग्रन्थ, रामायण तथा महाभारत के उपाख्यानों को ग्रहण किया और उनकी शिष्य-परम्परा की कृतियो मे भी इसी प्राचीन काव्य-धारा की पयस्विनी बही।

सन् १९१३ के लगभग शान्तिनिकेतन में कला-भवन की स्थापना हुई और उसके सर्वप्रथम अध्यक्ष श्री असितकुमार हालदार नियुक्त हुए। इसके पश्चात् १९२३ मे श्री नन्दलाल वसु शान्तिनिकेतन कला-भवन के अध्यक्ष हुए और असित बाबू जयपुर आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल होकर चले गए। असित बाबू रवीन्द्रनाथ से अधिक प्रभावित थे। उन्होंने रवीन्द्र-काव्य-धारा के साथ ठाकुर चित्र-शैली में एक विशेष सामंजस्य उत्पन्न किया। नन्दलाल वसु ने भी अपनी कला तथा रवीन्द्र-काव्य-धारा में इतना गहरा रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित किया कि डॉ० आनन्दकुमार स्वामी के शब्दों में हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि रवीन्द्रनाथ की कविताएँ एक-एक चित्र हैं। रवीन्द्रनाथ की एक कविता 'माझी' तथा नन्दलाल वसु के एक चित्र 'माझी' में कितनी समता है :

"आय रे आय तोरा के जाबि पारे,
आमि तरी निए बोसे आछि नदीर धारे।

ओ पारे कतो खेला कतो जने,
ए पारे धू धू करे मरि, वारि नाहिं।"

"आओ रे आओ! तुम लोग कौन-कौन उस पार चलोगे? मैं नदी-किनारे नौका लेकर बैठा हूँ। उस पार अनेकों खेल तथा क्रीड़ाएँ हो रही हैं। अनगिनती लोग वहाँ हैं। इस पार तो केवल प्रभंजन धू-धू कर रहा है। अभी वर्षा नहीं हुई है और मैं मर रहा हूँ।"

रवीन्द्रनाथ का समस्त काव्य तीन भागों मे विभक्त है, जिनमें विविध विषय, जातीय सगीत, और ब्रह्म सगीत हैं। शान्तिनिकेतन की कला-कृतियाँ भी इन्हीं तीन विषयों में विभक्त हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविताओं में लोक-भावना एव लोक-दृश्यों को प्रतिष्ठित किया है। शान्ति-निकेतन की कला-शैली भी लोक-भावना एव लोक-जीवन के विभिन्न दृश्यों को उद्‌घाटित करती है। इस प्रसंग में असितकुमार हालदार का एक चित्र 'छुटीर दिने' तथा रवीन्द्र की प्रसिद्ध कविता 'छुटीर दिने' तुलनीय हैं।

एक प्रश्न यह उठता है कि इस लोक-भावना और रहस्यवादी या छायावादी अध्यात्म-भावना में क्या सम्बन्ध है। इसमे सन्देह नहीं कि हमारी कुछ कलाएँ ऐसी हैं जो हमारे अलौकिक तथा आध्यात्मिक जगत् से सीधा सम्बन्ध स्थापित करती हैं। उन कलाओं के द्वारा हम इस विशाल प्रकृति एव उसके अन्तस्तल में स्थित अदृश्य एव व्यापक शक्ति का अनुभव करते हैं। वे कलाएँ हैं: चित्र-कला, मूर्ति-कला, नृत्य, अभिनय तथा काव्य-कला। भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों मे ज्ञान की इस परम अनुभूति के लिए नियम बने, शास्त्र बने, और समस्त कलाओं के मध्य सस्कार रूपी एक ऐसा सूत्र स्थापित हुआ जिसमें हमारे सकल्प हैं। जिनकी एक पुरानी परम्परा है। जिस समय धर्म का सूत्र ग्रहण करते समय भिक्षु कहता था: "बुद्ध शरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि"—उस समय वह भावना के उस व्यापक सिद्धान्त के साथ अपना जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध जोडता था। ऐसी ही भावनाओं के साथ भारत मे अनेक लोक-कला-शैलियो का विकास हुआ और लोक-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इस ज्ञान-सूत्र के साथ परम्परागत सिद्धान्तो के अनुसार युग-युग में भारतीय कला-धारा प्रवाहित हुई।

इतिहास मे ऐसे बहुत से अवसर आए जब कि प्राकृतिक एव राजनीतिक कारणों से बहुत से विप्लव हुए और परम्पराएँ नष्ट हो गई। कला और काव्य के व्यापक सस्कार सूत्र अदृश्य हो गए। लोग उसे भूल गए।

भारतीय इतिहास मे उत्तर-मध्यकालीन कला शैली तथा हिन्दी-काव्य-धारा का जो एक नया युग आरम्भ हुआ उसमे हमारी परम्परागत भावनाओं का पुनः सस्कार हुआ। रामानन्द, कबीर, सूर और तुलसी इस नये सस्कार के गुरु हुए। उन्होंने लोक-भावना का स्तर पुनः ऊँचा किया। कला की दृष्टि से हमारे मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का इतिहास बडा ही समृद्ध रहा है। राम और कृष्ण हमारी हिन्दी-काव्य-धारा एव कला के आधार रहे हैं। १९वीं शताब्दी के राजनीतिक विप्लवों के कारण एक बार पुनः भारतीय कला तथा काव्य के परम्परागत सम्बन्ध भंग हो गए। देश के भिन्न-भिन्न स्थानों मे स्थानीय कला-शैलियो की सीमाएँ निर्धारित होकर भावना की सरस्वती पुनः अदृश्य हो गई। सगीत और नृत्य की भी दशा स्थानीय नवाबी-क्षेत्र के बाजार में उस्तादो के हाथ बिक गई थी। १९वीं शती तथा २०वीं शती के सन्धि-काल में भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन का अभ्युदय 'भारतमाता' की दुर्दशा के प्रति करुण एवं क्रांतिकारी भावना के

साथ बगाली नाट्य-मंच पर अवतरित हुआ। सन् १८७२ में प्रसिद्ध अभिनेता श्री गिरीश घोष ने कलकत्ता में 'नैशनल थियेटर्स' की स्थापना की। यही करुणा तथा क्रान्ति, तपःपूत स्वरों में बंकिम के 'बन्देमातरम्' की हुंकार से धीरे-धीरे एक सांस्कृतिक चेतना और वैयक्तिक साधना में बदलकर रवीन्द्र की 'गीतांजलि' में गुञ्जित हो उठी। 'गीतांजलि' के शब्दों में उसने भारतीय लोक-जीवन को यह सन्देश दिया :

अन्तर मम विकसित करो अन्तरतर हे।
निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे॥

बंकिम बाबू तो "सुजला सुफला तथा मलयज शीतला" कहकर चुप हो गए थे किन्तु रवीन्द्र ने एक ही "सुजला" के व्यापक अर्थ किए और आँखों में भी "सुजला" की धारा बही :

तोमार सोनार थालाय साजबे आज दुखेर अश्रुधार।
जननीगो गांथिबो तोमार गलार मुक्ताहार॥

"हम तुम्हारे सुनहरे थाल में अपने दुःखों की अश्रु-धारा सजायँगे। हे जननी, तुम्हारे गले के लिए हम मुक्ताहार गूँथेंगे।"

'गीतांजलि' की यह करुणा-धारा देश के विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों में अज्ञात ही प्रवाहित हुई। हिन्दी के छायावादी कवि भी इस धारा से प्रभावित हुए। जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' तथा महादेवी की 'नीरजा', और पन्त तथा निराला के 'पल्लव' एवं 'गीतिका' में एक अद्भुत समता मिलती है।

वैसे मेरी स्पष्ट मान्यता यह है कि हिन्दी-काव्य-धारा की छायावादी प्रवृत्ति अपने स्थान पर स्वयं मौलिक रही है। वैदिक काल से आधुनिक काल तक हमारा आध्यात्मिक काव्य लोक-भावना की परम्परा से बँधा रहा है। वह बन्धन कुछ सीमा तक छायावाद में भी है। कुछ लोग यह कहना चाहते हैं कि हिन्दी में छायावाद की लहर बंगाल से ही आई। संयोग से हिन्दी के महाकवि निराला का जन्म बंगाल के महिषादल में हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि निराला जी रवीन्द्र-साहित्य के भक्त हैं। अतः यदि निराला जी की काव्य-धारा रवीन्द्र से प्रेरित हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। किन्तु प्रसाद, पंत और महादेवी के सम्बन्ध में भी यह कह सकना कठिन है। वैसे तो देश की एक परिस्थिति ने ही इन सबों की प्रवृत्तियों को समान रूप से जन्म दिया है। शान्ति-निकेतन-कला-शैली और विभिन्न भाषाओं का रहस्यवादी काव्य एक ही परिस्थिति की उपज है। पर सबकी अलग विशेषताएँ हैं। हृदय के एक तार से अनेक एकतारों की सृष्टि सम्भव है। किन्तु एकतारों की ध्वनियों में अपनी-अपनी व्यक्तिगत झंकारें हैं। उन झंकारों के मूल में एकता भी है।

वैसे हिन्दी-क्षेत्र में बंगला की तरह काव्य और कला का व्यापक सहयोग नहीं हुआ है। हिन्दी में अभी तक शान्तिनिकेतन-जैसी कलात्मक प्रवृत्तियाँ नहीं जागीं। संतोष तो इतना ही है कि हिन्दी-जगत् के मध्य महादेवी की काव्य-धारा के साथ भारतीय कला की परम्परा सुरक्षित है, जो हिन्दी-साहित्य में कलात्मक जागृति का मार्ग प्रशस्त करेगी। वैसे हिन्दी-काव्य-धारा तथा हिन्दी-क्षेत्र की कला की अपनी स्वतन्त्र शैली होगी। फिर भी छायावादी काव्य की आलोचना और उसका दिग्दर्शन करते समय रवीन्द्र-काव्य-धारा एवं शान्तिनिकेतन-कला-शैली को ध्यान में रखना चाहिए।

मूल्यांकन

इलाचन्द्र जोशी

रवीन्द्र-गद्य-साहित्य में रहस्य-चेतना और कथा-तत्त्व

रवीन्द्र-गद्य-साहित्य की आलोचना करने के पहले यह जानना बहुत आवश्यक है कि कौन मूल प्रवृत्ति (या प्रवृत्तियाँ) उनकी प्रतिभा को प्रधान रूप से परिचालित करती रही है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे ध्यान में सबसे पहले यह बात आती है कि यथार्थ की स्थूल अभिव्यक्ति के परे सूक्ष्म की जो एक चित्रात्मिका मोहिनी माया कभी अपने विविध रूप, रस, वर्ण और गन्धमय सौन्दर्य-वैचित्र्य से और कभी अव्यक्त और अतीन्द्रिय रहस्यात्मक भाव-छाया के माध्यम से अपने को नाना इंगितों द्वारा प्रस्फुटित करती रहती है, उसीको पकड़ने के लिए कवि के प्राण निरन्तर आकुल रहे हैं। यदि हम रवीन्द्र के प्रारम्भिक काल से लेकर अन्त तक लिखी गई कविताओं का अध्ययन भली भाँति करें तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उनके दीर्घ जीवन के विविध युगों के विकास के अन्तराल में एक विशेष धारा आदि से अन्त तक सुस्पष्ट और सुनिश्चित रेखा आँकती हुई चली गई है। और वह है वही रहस्यात्मिका धारा जिसका अनुसरण करने पर हम देखते हैं कि रवीन्द्रनाथ के मूल प्राणों को सदा व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त ने, प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष ने, निकट की अपेक्षा दूर ने, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म ने, यथार्थ की अपेक्षा स्वप्न ने, 'कंक्रीट' की अपेक्षा 'एब्सट्रेक्ट' ने अधिक आकर्षित किया है। उन्होंने स्वयं अपने प्राणों की मूल प्रवृत्ति के इस एकतरफा दबाव को अपनी विविध कविताओं में स्वीकार किया है।

यह प्रवृत्ति रवीन्द्रनाथ में जन्म-जात रही है। 'मेरा बचपन' में उन्होंने बताया है कि छुटपन से ही वह अपने चारों ओर के कर्म-कोलाहलमय वातावरण के बीच में स्वयं अपने ही भीतर से एक स्वप्न-राज्य की सृष्टि करके उसमें एकाकी मग्न रहने में दु:ख पाते थे। उनका कलकत्ता वाला बहुत बड़ा पैतृक मकान विविध कामों में व्यस्त आदमियों से भरा-पूरा रहता। पर उन्होंने उस लोक-समागम से कर्म-मुखर भवन में भी अपने लिए स्वप्न-लोक का निर्जन रेगिस्तान खोज लिया था। वह लिखते हैं : "मेरे जीवन में बाहर की खुली छत प्रधान छुट्टी का देश था। "उस छत पर पहुँचना मानो बस्ती के सीवानी पत्थर को बहुत दूर छोड़ जाने के समान था। वहाँ जाने पर कलकत्ता के सिर पर पैर रखकर मन कहाँ चला जाता है जहाँ आकाश का अन्तिम नीला रंग धरती की अन्तिम हरियाली में मिल गया है। मैं अकसर छिपकर दुपहरी को इस

छत पर चढ जाता था। दुपहरी सदा मेरे मन को भुलाए रही है। वह मानो दिन की रात है, बालक संन्यासी के वैरागी हो जाने का समय है। यह छत मेरे लिए किताब मे पढ़ा हुआ रेगिस्तान था। चारों ओर धाँय-धाँय जल रहा है, गरम हवा सनसनाती हुई धूल उड़ाती निकल जाती है, आसमान का नीला रग फीका हो जाता है। इस छत के रेगिस्तान में एक 'ओएसिस' भी दिखाई दिया था। नहाने वाला घर है, जहाँ छिपकर घुस पड़ा हूँ। इसे मानो बगाल के शिशु लिबिगस्टन ने अभी खोज निकाला है।"

जो बालक अपनी कल्पना द्वारा एक क्षण में ठोस छत को स्वप्न लोक के रेगिस्तान में परिणत करने और वहीं एक नखलिस्तान भी खोज निकालने, भरी दुपहरी को दिन को रात के रूप में ग्रहण कर सकने की क्षमता रखता हो उसकी रहस्यवादी कल्पना साधारण कदापि नहीं समझी जा सकती।

पर यह होने पर रवीन्द्र की प्रतिभा ऐसी विराट् और व्यापक थी कि वह एकागी नहीं रह सकती थी। स्वप्न-लोक के अपार रहस्यमयी माया के तीव्र और अप्रतिरोधनीय आकर्षण की ही यह प्रतिक्रिया थी कि रवीन्द्रनाथ को बीच-बीच मे पद्य छोडकर गद्य पर उतरना पड़ा और स्वप्न को बरबस दबाकर यथार्थ को अपनाने की आवश्यकता महसूस हुई। पर यथार्थ को अपनाने पर भी वह अपनी छायात्मक भावना और कल्पना के विकास से एकदम मुक्त नहीं हो पाए। यह ठीक है कि अपनी कहानियो और उपन्यासो में वह अपने अन्तर के छायालोक की तन्मयता से बहुत-कुछ उबरे हैं और यथार्थ जीवन के सघर्ष की अनुभूति और सामाजिक चेतना उनमे काफी हद तक जगी है, पर फिर भी वह यथार्थ पर पूर्णतः यथार्थवादी दृष्टि से विचार करने और बाह्य जीवन के कठोर सघर्ष का विवेचन और विश्लेषण निर्मम वास्तविकता की तटस्थ दृष्टि से करने मे उतने सफल न हो सके। उनके अधिकाश उपन्यासों में हम जीवन की गम्भीर, दार्शनिक और आदर्शात्मक व्याख्या अवश्य पाते है, पर नही पाते यथार्थ जीवन का ठोस और सच्चा स्वरूप, नहीं पाते यथार्थ की कठोर मिट्टी को फोड़कर जीवन के केन्द्र से बाहर निकलने वाली वास्तविक जीवन के कीचड़ से सनी, अकल्पित, जीवित लोक की समस्याएँ। उनके उपन्यासो के पात्र जीवित लोक के प्राणी न होकर मनुष्य के अन्तर के विभिन्न भावों के पृथक्-पृथक् प्रतीक की तरह लगते हैं। जब कहीं उनके कोई दो पात्र आपस मे बातचीत करते हैं तब लगता है कि मानव-हृदय की दो परस्पर विरोधी आदिम प्रवृत्तियाँ समूर्त होकर आपस में वाद-विवाद कर रही हैं। मनुष्य की सनातन प्रवृत्तियो और परम्परागत भावो को समूर्त रूप देकर उनके बीच परस्पर बातचीत करवाने का ढग रवीन्द्रनाथ को कथा-साहित्य के अलावा भी कितना प्रिय है इसका उदाहरण हम उनके 'विचित्र निबन्ध' नामक निबन्ध-सग्रह के 'पचभूत' शीर्षक दीर्घ निबन्ध में पाते हैं; जिसमें आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु को व्योम, स्रोतस्विनी, दीप्ति, क्षिति और समीर इस तरह के नाम देकर उन्हे मानवीय रूप में खडा करके उनके द्वारा जीवन के विविध विषयों पर मानवीय दृष्टिकोण से ही बहुत दिलचस्प बातचीत कराई गई है। उनकी बातें सुनने पर लगता है जैसे वे सचमुच में विभिन्न प्रवृत्तियों वाले मानवीय प्राणी हों। यही हाल हम उनके उपन्यासों में पाते हैं। उदाहरण के लिए उनके 'चतुरग' नामक उपन्यास को लीजिए।

इस उपन्यास के दो मूल पात्र—शचीश और दामिनी—कुछ ऐसी अजीब कल्पना के रग में रँगे हुए, अनोखे और अस्वाभाविक प्राणी लगते हैं कि उन्हें वास्तविक जीवन की सहज

दृष्टि से देखने पर न तो उनके जीवन की बाहरी गति-विधि का ही कोई ठीक तारतम्य बिठाया जा सकता है, न उनके अन्तर्जीवन में चलने वाले अजीब और रहस्यात्मक संघर्ष का कोई सुस्पष्ट आभास ही छायात्मक परदे के भीतर से झलक पाता है। 'चतुरंग' की कहानी संक्षेप में, मोटे तौर पर, इस प्रकार है : जगमोहन और हरिमोहन दो भाई थे—जगमोहन बड़े और हरिमोहन छोटे, पर दोनों भाइयो की अन्तःप्रवृत्तियाँ और जीवन की दिशाएँ दिन और रात की तरह एक-दूसरे के विपरीत पडती थीं। जगमोहन एकदम नास्तिक थे, पर थे हृदय के सच्चे और स्वभाव के सीधे और साफ। सासारिक कूटबुद्धि उन्हें छू तक नही गई थी, पर मानवात्मक दृष्टि, सामाजिक चेतना उनमे अत्यन्त जाग्रत थी। पुरानी पीढी के होने पर भी छुआछूत वह तनिक भी नहीं मानते थे और हरिजनो और मुसलमानो के साथ खान-पान का सम्बन्ध बराबर रखते थे। इसके विपरीत हरिमोहन धर्माधर्म, आचार-विचार और पूजा-पाठ की दृष्टि से जैसे ही पाखण्डी थे, सासारिक कूट-बुद्धि भी उनकी वैसी ही तीव्र थी। जगमोहन अविवाहित थे और हरिमोहन के छोटे लड़के शचीश को उन्होंने एक प्रकार से अपना पोष्य पुत्र-सा बना लिया था। शचीश भी उन्ही-के साथ रहता और उन्हे ही वह अपना गुरु मानता था। जब हरिमोहन ने देखा कि शचीश हर बात मे उनके नास्तिक भाई का पक्का चेला बन चुका है, तब हरिमोहन बहुत चिन्तित हुए, उन्होंने हर हालत मे शचीश को अपने अधार्मिक भाई के कब्जे से छुड़ाने की कोशिश की, पर शचीश टस-से-मस न हुआ। एक काण्ड और हो गया, जिससे हरिमोहन बड़े भाई पर और अधिक बिगड़ उठे। ननीबाला नाम की एक अनाथप्राय लडकी का धर्म नष्ट करके शचीश के बड़े भाई पुरन्दर ने खदेड दिया था। उसको गर्भ भी रह चुका था। शचीश उसे अपने ताऊजी के यहाँ ले आया और सारी स्थिति उन्हे समझाकर उसने उस अभागिनी लड़की से 'सिविल मैरिज' करने के अपने इरादे से उन्हे सूचित किया। जगमोहन ने उसको पीठ ठोकी, पर पुरन्दर ने उस विवाह के विरुद्ध बडा उपद्रव मचाना शुरू किया। अन्त में तग आकर ननीबाला ने आत्म-हत्या कर ली। इस घटना के कुछ समय बाद जगमोहन चल बसे। शचीश के भीतर न जाने किस अज्ञात कारण से क्या उथल-पुथल मचने लगी। एक दिन उनके मित्र श्रीविलास को पता चला कि वह स्वामी लीलानन्द के दल मे भरती होकर कीर्तन मे भाग लेने लगा है। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह शचीश के प्रति स्नेहवश स्वामी जी के पास गाँव मे जा पहुँचा। वहाँ जाकर क्या देखता है कि वहाँ भक्तो का बड़ा समारोह है और शचीश एकान्त मन से स्वामी जी की सेवा मे व्यस्त है— कभी उनके लिए चिलम भरता है कभी पाँव दबाता है। शाम को पाँच से लेकर दस बजे रात तक कीर्तन हुआ और शचीश तद्गत होकर उसमें भाग लेता रहा। बाद मे श्री-विलास को यह भी पता चला कि स्वामी जी शिवतोष नामक जिस व्यक्ति के मकान मे भक्तो-सहित अड्डा जमाए हुए हैं वह उनका पक्का चेला था और अब मर चुका है। मरने के पहले वह अपनी सारी सम्पत्ति (जिसमे कलकत्ता का एक मकान भी है) स्वामी जी को भक्ति-प्रचार के लिए सौपकर अपनी नि.सन्तान स्त्री को केवल जीवन-निर्वाह का सत्त्व भर दे गया है। श्रीविलास को यह जानने में भी देर न लगी कि दामिनी स्वामी लीलानन्द की कीर्तन-मण्डली मे तनिक भी दिल-चस्पी नहीं रखती। स्वामी जी के दर्शनों के लिए दामिनी के यहाँ स्त्रियों और पुरुषो की अपार भीड़ उमड़ती रहती थी, पर दामिनी, जिसे स्वामीजी सहज-सुलभ थे, उनके प्रति एकदम उदासीन थी। दामिनी युवती थी, रूपवती थी और श्रीविलास को लगा कि अन्तर से वह रसवती भी है,

वास्तव में सावन की काली घटाओं के बीच में रह-रहकर झलक जानी वाली दामिनी ही थी। पर उसका वह विद्युत्तेज, वह सावन के डबाडब भरे हुए बादलों का अन्तर-रस किसके लिए था? श्रीविलास को लगा कि पत्थर के देवता शचीश की मानसी मूर्ति पर वह अपना सिर पटक रही है, पर शचीश का मनोभाव उसके प्रति क्या था इसका कोई आभास न शचीश की किसी बात से, न व्यवहार से मिलता है। केवल उनकी डायरी के एक पन्ने से श्रीविलास ने उसके सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। उनमें शचीश ने लिखा है: "ननीबाला में मैंने नारी का एक विश्व-रूप देखा था—अपवित्रता के कलंक को जिस नारी ने खुद ही वरण किया, पापी के लिए अपना जीवन दे डाला। किन्तु दामिनी में नारी का एक अन्य विश्व-रूप देखा। उस नारी का मृत्यु से कोई नाता नहीं, वह केवल जीवन-रस की ही रसिक है। वसन्त के मोहक पुष्प-वन के समान वह सौरभ और लुनाई की हिलोर से छलक-छलक उठती है। सन्यासी को घर में स्थान देते हुए वह तनिक भी राजी नहीं। वसन्त के दक्षिण पवन के मुकाबिले उत्तर की शीतकालीन ठण्डी हवा को वह कौड़ी-भर लगान न देगी ...।"

पर डायरी की इन पंक्तियों के अतिरिक्त शचीश के मनोभाव को जानने का कोई जरिया पाठक को सुलभ नहीं है—केवल दामिनी के सम्बन्ध में ही नहीं, शचीश के स्वयं अपने भीतरी विकास—या ह्रास—के सम्बन्ध में भी। सारे उपन्यास में कथा के रिपोर्टर श्रीनिवास द्वारा केवल इतनी ही सूचना हमे मिलती है कि शचीश पहले घोर नास्तिक था, उसके बाद सहसा—मन की किसी अज्ञात खाम-खयाली के फलस्वरूप—स्वामी लीलानन्द के साहचर्य में घोर आस्तिक बन बैठा, और खान-पान, छूआछूत, आचार-विचार का पूरा ध्यान रखने के साथ ही कीर्तन-भजन में पूरे मनोयोग से शरीक हो गया, और उसके बाद एक दिन अचानक ही उस मण्डली से भी अलग हो गया। पर अलग होने पर, श्रीविलास के ही शब्दों में, "उसने क्या माना और क्या नहीं, कुछ समझ में नहीं आया।" क्या दामिनी की मौन अन्तर्वेदना को कभी समझने का प्रयत्न उसने किया? और स्वयं उसके अपने भी मन में उसके प्रति वेदना की कोई हल्की-सी भी तरंग कभी उठी? दो-एक अत्यन्त अस्पष्ट इंगितों से लगता है कि शायद उठी थी। पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। निश्चित जो-कुछ है वह केवल यह कि उसने दामिनी को कभी पास नहीं फटकने दिया। और अन्त में पाठक आश्चर्य के साथ देखता है कि एक दिन श्रीविलास के साथ दामिनी का विवाह हो जाता है। पर दामिनी जिस अज्ञात मानसिक और शारीरिक पीड़ा को बहुत दिनों से दबाती आ रही थी, विवाह के बाद वह बाहर फूटकर दिन-पर-दिन बढ़ती चली जाती है। मरने के पहले वह श्रीविलास के पाँवों की धूल लेती हुई कहती है: "जी की साध नहीं मिटी, असीस दो कि अगले जन्म में तुम्हें फिर पा सकूँ।"

इस तरह यह विचित्र उपन्यास नायक शचीश के मन का रहस्य तनिक भी प्रकट किये बिना ही अजीब ही ढंग से समाप्त होता है। सारे उपन्यास में 'डायलाग' बहुत थोड़ा है, और जितना कुछ है भी उसमें केवल तात्त्विक और काव्यात्मक विवेचन ही मिलता है। रहस्यवादी रवीन्द्रनाथ इस उपन्यास में भी प्रत्यक्षवादी नहीं हो पाए। केवल उपन्यास का प्राण ही नहीं, उसका बाहरी ढाँचा भी रहस्यात्मकता से ओत-प्रोत है।

पर विचारणीय विषय यह है कि क्या इस रहस्यात्मकता के कारण 'चतुरंग' का औपन्यासिक रस सूख गया है? मेरी तो अपनी यह धारणा है कि उसके रस की वृद्धि ही हुई है

एकदम नीरस, अन्तःसार-रहित यथार्थवादी दृष्टिकोण और यथार्थवादी ढाँचे को अपनाने से ही कोई औपन्यासिक रचना श्रेष्ठ नहीं हो जाती। रहस्यात्मक दृष्टि को अपनाने में यह लाभ होता है कि प्रत्यक्ष स्थूल के भीतर निहित जो सूक्ष्म अन्तरीण सत्य है वह भी आभासित हो उठता है। अन्तरीण भक्त ही मूल भक्त है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है, और जब वह किसी महान् अन्तर्दर्शी कवि की रहस्यात्मक शैली द्वारा अभिव्यजित हो उठता है तब उसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। 'चतुरग' में यथार्थवादी शैली के अभाव के कारण शचीश के व्यक्तित्व के ऊपरी स्तर हमारे आगे सुस्पष्ट नहीं हो पाते, यह ठीक है, पर कवि की रहस्यात्मक शैली के प्रभाव से उनकी आत्मा के अन्तरतम स्वरूप का आभास सीधे पाठक की आत्मा को मिलने लगता है। उपन्यास के पात्र और पाठक के बीच का वह सीधा आत्मिक सम्बन्ध केवल उसी लेखक द्वारा स्थापित हो सकता है जो महान् कवि और महान् द्रष्टा होने के साथ ही महान् कलाकार भी हो।

रवीन्द्रनाथ के दूसरे उपन्यासो में भी हम उनकी इसी शैली की प्रधानता पाते हैं। उदाहरण के लिए 'दो बहनें' नामक उपन्यास को लीजिए। शर्मिला और ऊर्मिमाला दो बहनें है। शर्मिला अपने पति शशाक की अत्यधिक हित-चिन्तना के खयाल से उसके ऊपर सब समय अत्यन्त कड़ा नियन्त्रण रखती है। उसके स्नान ध्यान और खान-पान से लेकर उसके उठने-बैठने और बाहर जाने-आने तक के सभी कामो की देख-रेख वह बड़ी ही लगन और पूरी निगरानी के साथ करती रहती है। शशाक की आदत हर बात मे अपनी पत्नी पर पूर्णतया निर्भर रहने की पड़ गई है। वह अक्सर छोटी-छोटी चीजों, छोटी-छोटी बातो को भूलता रहता है और शर्मिला सस्नेह उसकी भूली हुई चीजों को ठीक स्थान पर सम्भालती हुई, भूली हुई बातो की याद दिलाती हुई, बताती रहती है कि किस समय शशाक को क्या करना होगा, बाहर जाकर मित्रो के साथ कितनी देर तक रहना होगा, कब क्या पहनना होगा, क्या खाना होगा, कब सोना होगा, कब उठना होगा आदि। सभी बातो के सम्बन्ध में वह स्नेहपूर्ण आदेश उसे देती रहती है। उसके अनुशासन मे शशांक का जीवन बँधे हुए ढाँचे के अनुसार चलता रहता है। बाद मे जब शर्मिला किसी बीमारी से पीडित होकर बिस्तर पर पड़े रहने के लिए बाध्य होती है तब इतने दिनों तक अपने हाथों मे कठपुतले की तरह सजाकर रखे हुए पति-देवता की देख-भाल के लिए वह अपनी छोटी बहन ऊर्मिमाला को बुला भेजती है। ऊर्मिमाला का विवाह उसके जमीदार पिता ने एक ऐसे व्यक्ति के साथ तय कर लिया है जो अत्यन्त गम्भीर प्रकृति का है और बहुत ही कड़े आदर्शात्मक अनुशासन का पाबन्द है। उस लडके का नाम नीरद है। वह डॉक्टरी पढ़ता है और विलायत जाने की तैयारी कर रहा है। ऊर्मि के यहाँ उसका आना-जाना बराबर बना रहता है और वह अपनी भावी पत्नी को जीवन में अत्यन्त गम्भीर आदर्शों को निभाने की ओर प्रेरित करता है। ऊर्मि सच्चे भाव से उसका अनुशासन मानकर चलना चाहती है, पर उसका चंचल मन भीतर-ही-भीतर जीवन की सहज गति से प्राप्त होने वाले मुक्त आनन्द की प्राप्ति के लिए छटपटाता रहता है। इसलिए जब वह अपनी दीदी शर्मिला के बुलाने पर उसके घर के बिखरे कारोबार को सँभालने और शशाक की 'देख-रेख' करने के लिए उसके यहाँ जाती है तो उसे लगता है बहुत दिनों से किसी बड़े भार में जुते हुए उसके मन को छुट्टी मिली। शशाक भी उसके समान खुशदिल, चचल और सहृदय लडकी को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो उठता है। वह भी अपने को एक बहुत बड़े अनुशासन से मुक्त हुआ अनुभव करता है। दोनों (शशाक और ऊर्मि) एक-दूसरे के

साहचर्य में आनन्द के 'हवाई ईथर' में उड़ने से लगते हैं, शर्मिला के अनुभूतिशील नारी-हृदय से शशांक के मन का यह आश्चर्यजनक परिवर्तन छिपा नहीं रहता। उसने ऊर्मि को बुलाया तो इसलिए था कि वह घड़ी के काँटे की-सी नियमित रीति से शशांक के प्रतिदिन के जीवन को इसी तरह व्यवस्थित रखे जिस तरह वह इतने दिनों तक स्वयं रखती चली आती थी, पर वह देखती है कि ऊर्मि के आने के बाद से सब-कुछ उलटा हो रहा है। अब शशांक न समय पर काम पर जा पाता है, न अपने व्यवसाय से सम्बन्धित विषयों को नियमित रूप से देख पाता है, और समय-असमय साली बहनोई दोनों या तो गप-शप में या घूमने-फिरने में मग्न रहते हैं। पर साथ ही शर्मिला यह भी देखती है कि शशांक अब पहले से सुखी है और 'देख-रेख' के बिना ही उसका स्वास्थ्य भी अब पहले से अच्छा हो रहा है। इसलिए ऊर्मि को वह डाँट भी नहीं पाती, धीरे-धीरे यह सत्य उसके आगे उद्घाटित हो जाता है कि उसने अपने पति की अत्यधिक हित-चिन्ता में उसका जीवन ही निरानन्द बना दिया था और जीवन का सहज सुख और उल्लास सेवा और जतन के नियमों के बन्धनों में बाँधने से नहीं, बल्कि अनियम में ही मुक्त छोड़ देने से दिया जा सकता है। इधर नीरद की घनिष्ठता उसके विलायत जाने पर, किसी यूरोपीय महिला से हो जाती है और वह चिट्ठी द्वारा यह सूचित करता है कि वह ऊर्मि से सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता है। ऊर्मि पत्र पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हो उठती है। शर्मिला एक दिन साहस करके ऊर्मि के आगे यह प्रस्ताव रखती है कि वह बहन की सौत होना स्वीकार कर ले। ऊर्मि के भीतर बड़ा द्वन्द्व मचता है और एक दिन वह भी भागकर यूरोप चली जाती है— अध्ययन के लिए।

इस उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने क्या बात दिखानी चाही है इसका कुछ कुछ आभास उपन्यास के आरम्भ में दिये गए रवीन्द्रनाथ के ही निम्न शब्दों में मिल सकेगा :

"स्त्रियाँ दो जाति की होती हैं, ऐसा मैंने किसी-किसी पण्डित से सुना है। एक जाति प्रधानतया माँ होती है, दूसरी प्रिया। ऋतुओं के साथ यदि तुलना की जाय तो माँ होगी वर्षा ऋतु—वह जल देती है, फल देती है, ताप-शमन करती है, ऊर्ध्वलोक से अपने-आपको विभाजित कर देती है, शुष्कता को दूर करती है, अभावों को भर देती है। और प्रिया है वसन्त ऋतु। गम्भीर है उसका रहस्य, मधुर है उसका माया-मन्त्र। उसकी चंचलता रक्त में तरंग लहरा देती है और चित्त के उस मणिकोष्ठ में पहुँचती है जहाँ सोने की वीणा में एक निभृत तार चुपचाप, झंकार की प्रतीक्षा में पड़ा हुआ है; झंकार—जिससे समस्त देह और मन में अनिर्वचनीय की वाणी झंकृत हो उठती है। शशांक की स्त्री शर्मिला माँ जाति की है।"

इसके आगे एक वाक्य हम अपनी ओर से जोड़ सकते हैं : "और उसकी छोटी बहन ऊर्मिमाला प्रिया जाति की है।"

ऊपर जिस 'अनिर्वचनीय की वाणी' को झंकृत करने वाली बात रवीन्द्रनाथ ने कही है उससे इस बात का एक और प्रमाण मिल जाता है कि अपने कथा-साहित्य में भी वह अपने काव्य-साहित्य की ही तरह यथार्थ के बाहरी प्रकट रूप के अन्तर में निहित अतीन्द्रिय, 'एब्सट्रेक्ट' और रहस्यात्मक सौन्दर्य को पकड़ने की उत्सुकता से विरत नहीं हुए हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में यथार्थ जीवन का चित्रण केवल एक अवलम्ब है, उनका मूल उद्देश्य है प्रतिदिन के सुख-दुःखमय जीवन के घात-प्रतिघातमय रूपों के भीतर भी उसी अरूप की मोहिनी-माया की खोज, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

'फुलवाड़ी' नामक एक तीसरे उपन्यास में वही समस्या प्रायः उसी रूपक के (ढाँचे के) भीतर रखी गई है जो हम 'दो बहनें' में पाते हैं। नीरजा का पति आदित्य विलायती ढंग से 'कल्चर' किये गए फूलों का व्यवसाय करता है और उसकी पत्नी नीरजा इस व्यवसाय की उन्नति के लिए फुलवाडी को ठीक तरह से सजाकर तैयार करने मे अत्यन्त प्रेम और आनन्द से उसका साथ देती है। पर बाद में वह 'दो बहनें' की शर्मिला की ही तरह बीमार पड़ जाती है और फुलवाड़ी के काम में उसके पति आदित्य का हाथ बटाने के लिए आदित्य की कोई दूर के रिश्ते की बहन सरला आती है। नीरजा अपनी विवशता से परेशान है, तथापि इस कारण से उसकी ईर्ष्या और अधिक तीव्र हो उठती है और वह सरला को बागवानी के कामों मे एकदम अनाड़ी साबित करने में कोई बात उठा नही रखती, हालाँकि मन-ही-मन वह जानती है कि इस काम मे सरला उससे कई गुनी अधिक निपुण बल्कि विशेषता रखती है। जब एक दिन उसकी अदम्य ईर्ष्या का पता आदित्य को लगता है तब उसका उलटा प्रभाव उस पर पडता है। इतने दिनो तक उसके अवचेतन में सरला के प्रति प्रेम की जो भावना दबी पडी थी वह इस मुसकान मे अकस्मात् उभर उठती है। *नीरजा अपने से ही लड़ती हुई धीरे-धीरे स्थिति की कडवी और कठोर वास्तविकता* को जी कडा करके यथारूप ग्रहण करने का प्रयत्न करती है और भरसक उदार दृष्टिकोण को अपनाना चाहती है, पर उसका प्रयास विफल सिद्ध होता है। वह अपने पति पर प्रेम का एकाधिपत्य चाहती है, अकेले ही उसे समग्र रूप से पाने के लिए उसके चारों ओर मकड़ी की तरह अपनी आत्मा के लालारस से आन्तरिक भावो के ताने-बाने बुनकर लपेटे रखना चाहती है। पर सरला को यद्यपि आदित्य के विवाह के पहले से ही उसके साथ एकान्त सौहार्द के सम्बन्ध में बँधने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, तथापि वह अपने को अलग रखकर उसे बराबर खुली छूट दिये रहती है। इसका मनोवैज्ञानिक परिणाम ठीक वैसा ही निकलता है जैसा 'दो बहनें' में। प्रेम का सर्वग्रामी, एकाधिपत्य वाला रूप अपने उद्देश्य में स्वय अपने ही कारण से व्यर्थ सिद्ध होता है और प्रियजन को मुक्ति देकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि उक्त तीनो उपन्यासो मे रवीन्द्रनाथ का या तो रहस्यवादी का रूप हमारे सामने आता है या दार्शनिक का। जीवन का जो तत्त्व और दर्शन से रहित कठोर यथार्थ विविध संघर्ष-विघर्षमय चक्रों के ताने-बाने के बीच अपने-आपमे ही एक विशेष महत्त्व रखता है उसकी कुटिल काँटेदार पेंचो की उलझनों से रवीन्द्रनाथ सदा बचकर चले हैं। वे उलझनें बिना किसी ऊपरी आदर्शमूलक अथवा रहस्यात्मक आरोपो के स्वय अपने भीतर से जीवन के महासत्य को समझाने मे सहायक हो सकते हैं, इस बात की परख करने की कोई उपयोगिता ही उन्हें सम्भवतः कभी महसूस नही हुई। पर मैं फिर इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि इस कारण से उनके उद्देश्य की महत्ता तनिक भी खण्डित नहीं हुई है, बल्कि अपनी इस 'रहस्य-वादात्मक एप्रोच' से उन्होंने जीवन के मर्म-बिन्दु को समझने की एक और महत्त्वपूर्ण कुञ्जी हमे दी है, जो यथार्थ आदर्शवादी उपन्यासकारो को सुलभ नही थी।

केवल उपन्यासों में ही नहीं, नाटकों मे भी रवीन्द्र की वही रहस्याराधना, अनिर्वचनीयता की वही अरूपात्मक अव्यक्त साधना किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। उदाहरण के लिए *'नटी की पूजा' नामक नाटक को लीजिए। यह नाटक* 'अवदानशतक' के एक व्याख्यान पर आधारित है। महाराज बिम्बिसार बौद्ध-धर्म मे दीक्षित होकर, सारा राज-काज अपने सिंहासन-

लोभी और बुद्ध-विरोधी पुत्र अजात शत्रु को सौपकर, राजधानी से अलग, बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में रहने लगे हैं। भगवान् बुद्ध ने राज-वाटिका के अशोक-तले कभी उपदेश दिया था, वहीं पर उनकी स्मृति में महाराज बिम्बिमार ने एक चैत्य की स्थापना करके वहाँ प्रतिदिन संध्या को भगवान् बुद्ध के प्रति अर्ध्य-निवेदित करने के लिए राज-भवन की स्त्रियों को प्रेरित किया था। बुद्ध के जन्म-दिन के पुण्य अवसर पर उसी चैत्य में पूजा का आयोजन हो रहा है। राज-भवन की स्त्रियों का एक दल पूजा की सामग्री लेकर स्तूपमूल की ओर पूजा करने के लिए बढता है। उनके साथ राजनटी श्रीमती भी बुद्ध के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा का अर्ध्य चढाने के लिए जाती है। पर पता चलता है कि अजात शत्रु की आज्ञा से पूजा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। इतना ही नहीं, अशोक-तले जिस आसन पर बुद्ध कभी बैठे थे उसे तुड़वा दिया गया है और वहाँ पूजा करने वाले को प्राण दण्ड का आदेश है। इधर राज-महिषी लोकेश्वरी, जिन्होंने एक दिन बुद्ध, धर्म और सघ की सेवा मे अपने को अर्पित कर दिया था, अपने एकलौते पुत्र चित्र के चीवर धारण कर लेने पर अपनी गार्हस्थिक स्थिति को एकदम उजड़ा हुआ पाती हैं और उस धर्म के विरुद्ध, जिसने उनके पुत्र को उनसे छीन लिया, उनके मन में तीव्र प्रतिहिंसात्मक प्रतिक्रिया जग उठती है। वह भी इस बात पर तुल जाती हैं कि पूजा न होने पाय, बल्कि उलटे बुद्धवेदी को अपमानित किया जाय। और यह अपमान इस रूप में हो कि राजनटी श्रीमती पूजा करने के बजाय बुद्धवेदी पर नाचे—और इस प्रकार अपने को और बुद्ध की पुण्य-स्मृति को भी कलकित करे। राजनटी श्रीमती उस आदेश को मान लेती है। वह गहनों और कपड़ों से सज-धजकर भगवान् के ध्वस्त स्तूप के आगे ध्यानमग्न होकर खडी हो जाती है। राजमहिषी लोकेश्वरी उसे विष देती हुई कहती हैं कि वह नाच द्वारा अपने देवता को कलकित करने से यदि बचना चाहती है तो उस विष को पीकर नरक-भोग से मुक्ति पा सकती है। पर श्रीमती कहती है कि नही, वह नाचेगी, और मन-ही-मन यह प्रार्थना करती हुई कि उसके नृत्य की प्रत्येक भगिमा भगवान् की वन्दना के रूप मे व्यक्त हो उठे, वह तद्गत होकर नाचती हुई गाती है :

"मुझे क्षमा करो, हे, क्षमा करो! तुम्हें नमस्कार करती हूँ, हे निरुपम, तुम्हें स्मरण कर, मेरा चित्त नृत्य-रस से छलककर बज रहा है। मेरी सारी देह के आकुल रव मे, तुम्हारे मन्त्रहीन स्तव से, नव-जन्म के अवसर पर दाएँ-बाएँ दोनों ओर छन्द झर रहे हैं। आज मेरी प्रत्येक भगिमा मे, मेरे सगीत मे तुम्हारी वन्दना विराज रही है।

"यह कैसी परम व्यथा प्राणो को कम्पित कर रही है। वह कम्पन मेरे अन्तर को झकझोर रहा है। शान्ति-सागर में लहरे खेल रही हैं, उसमें 'सुन्दर' जग रहा है। मेरी सारी चेतना और सारी वेदना ने यह कैसी आराधना रच डाली है! मेरी साधना तुम्हारे चरणों मे लाज से मर न जाय।

"मैंने पूजा के लिए कानन से फूल नहीं चुने, फल भी मुझे नहीं मिले, अपने सूने से कलश में तीर्थ-जल भी मैंने नहीं भरा। पर मेरे अग-अग में मेरा बन्धनहीन हृदय अधरा-धारा ढाल रहा है। वह अर्ध्य पूजा के पुण्य-कार्य में तुम्हारे चरणो में अर्पित हो। आज मेरे नृत्य की प्रत्येक भंगिमा में, मेरे सगीत के प्रत्येक स्वर में तुम्हारी वन्दना विराजे, यह आशीर्वाद दो!"

और सचमुच उसकी प्रत्येक भगिमा में, सगीत के प्रत्येक स्वर मे एकान्त भक्ति का ऐसा मादक रस छलक उठता है कि उस रस-धारा के उद्दाम प्रवाह में राज-महिषी लोकेश्वरी का सारा

विरोध बढ़ जाता है वह बीच-बीच में भावमुग्ध होकर बोलती जाती हैं : "रुको मत, श्रीमती रुको मत ! गाओ, गाओ, नाचो, नाचो !"

श्रीमती आत्म-विस्मृत होकर नाचती-गाती हुई आनन्द की विह्वलता से अपने एक-एक गहने को उतार-उतारकर भग्न स्तूप की आवर्जना के ऊपर फेंकती चली जाती है, नृत्य के अवसर के लिए पहने गए एक-एक वस्त्र को भगवान् की वेदी पर चढाती चली जाती है, और भीतर रह जाता है केवल एक वस्त्र—भिक्षुणी का पीला चीवर। और तब नटी उसी प्रेमोन्माद में राजाज्ञा को भूलकर घुटने टेककर बोल उठती है, "बुद्ध शरण गच्छामि !" चारों ओर से भय-जनित पुकारें उठती है : "रुक, रुक, दुस्साहसिका, राजाज्ञा का उल्लघन करके मौत के मुँह में मत जा दीवानी !" पर वह सुनती हुई भी नही सुन पाती और आँखें मूँदकर कहती चली जाती है : "धम्म शरण गच्छामि ! सघ शरण गच्छामि !" और राज-महिषी भी अपना सारा विरोध भूलकर उसके स्वर मे-स्वर मिलाकर बोल उठती हैं . "बुद्ध शरण गच्छामि ! "इतने में रक्षिणी का तीखा अस्त्र नटी के ऊपर पड़ता है और वह गिर पड़ती है।

नाटक निस्सन्देह बहुत सुन्दर है। पर उसका सारा सौन्दर्य नटी की नृत्य और गीतो द्वारा की गई बुद्ध भगवान् की पूजा मे बँधा हुआ है। न नाटक मे वर्णित या व्यजित क्रिया-कलापो मे हम कोई विशेषत्व पाते हैं, न कथोपकथन मे कोई चमत्कार, स्वय नटी नृत्य और गीत के सिवा न तो कथोपकथन में कोई विशेष भाग लेती है न किसी नाटकीय क्रिया में। पर बीच-बीच मे जो गीत वह गाती है उनके भीतर निहित रहस्यात्मक भाव और भावात्मक रस ऐसे अनिर्वचीय माधुर्य का सृजन करते हैं, अन्तर के तार-तार को झकृत, अणु-अणु को तरगित करने वाली ऐसी उदात्त भावनाओं को जगाते हैं कि शाश्वत साम-मन्त्र की तरह उस महागीत का महा सुर अपने माया-बल से अपरूप को रूप में बाँधकर, अव्यक्त को व्यक्त करके चिर-शान्ति, चिर-प्रेम चिर-कल्याण और चिर-अहिंसा की जय-ध्वनि घोषित करता है। बुद्ध के रूपक में रवीन्द्रनाथ ने व्यक्त के मूल में निहित चिर-अव्यक्त के उसी अनिर्वचनीय महा सौन्दर्य की आराधना की है जो उनकी प्रायः समस्त साहित्यिक कृतियो का मूल प्रेरणा-स्रोत रहा है। और नटी रोग-शोक, दुःख-दैन्य, शासन-बन्धन द्वारा पीडित उस मानवात्मा का प्रतीक है जो अपनी चिर-बन्धनावस्था की विवशता के भीतर से भी प्रतिक्षण, विवशता के उपकरणों द्वारा ही, चिर-मुक्त, किन्तु चिर-अव्यक्त विश्वात्मा के प्रति ज्ञात में या अज्ञात में उन्मुख होती रहती है।

ऊपर आलोचित प्रायः सभी पुस्तकों का अनुवाद बहुत सुन्दर रीति से हुआ है। अनुवाद में मूल की रक्षा काफी हद तक की गई है। अनुवाद की भाषा भी बहुत सरल और स्वाभाविक लगती है, यद्यपि बीच-बीच में कहीं-कहीं पर बँगला-मुहावरो का हिन्दी-प्रयोग अखरने लगता है।[1]

●

१. 'मेरा बचपन', 'चतुरंग', 'दो बहनें', 'फुलवाड़ी', 'नटी की पूजा'—ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर। प्रकाशक—विश्वभारती, कलकत्ता।

विजयदेवनारायण साही

हिन्दी-गीत-परम्परा का नया उत्थान

टेक, तुक, लय और गेयता का आधार लिये हुए छायावादी कवियों ने, विशेषतः महादेवी, प्रसाद और रामकुमार वर्मा ने गीतों का निर्माण आधुनिक युग में किया। कवि की व्यक्तिगत और संक्षिप्त भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति के लिए इस गीत-शैली ने एक आवश्यक और मार्मिक इकाई की सृष्टि की। वह धारा छायावाद-रहस्यवाद की भावभूमि तक ही सीमित न रह सकी। छायावाद के उत्तर काल में जहाँ महादेवी की ऋचाओं, निराला की अर्चना तथा पन्त के अरविन्द-दर्शन में उसकी परिणति प्रत्यक्ष धार्मिक आध्यात्मिक विचारों और भावनाओं में हुई, वहाँ बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, नेपाली, शम्भूनाथसिंह आदि कवियो ने उसे एक ऐसी दिशा में मोडा, जो छायावाद के सर्वथा विरुद्ध न होते हुए भी पर्याप्त मात्रा मे उससे भिन्न थी। आज भी काफी संख्या में नये गीतकार उसी पथ को प्रशस्त कर रहे हैं।

महादेवी ने 'स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण' छायावादी-काव्य को 'वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम' कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी कवियों ने 'अह' और 'स्व' की स्थापना की। उनके परवर्ती गीतकारों ने इस स्थापना का कुछ अधिक जोर से समर्थन किया। परन्तु छायावादियो और परवर्ती गीतकारो के 'स्व' में बहुत बडा अन्तर था। दोनों की भिन्नता का प्रारम्भ यहीं से होता है। छायावादी का 'स्व' अधिकतर एक रहस्यमय प्राणी है जिसके चारों ओर एक दार्शनिक दृष्टिकोण, कुतूहल-मिश्रित जिज्ञासा, सूक्ष्म भावना और व्यापक कल्पना का झिलमिला कुहासा लिपटा हुआ है। अपनी सर्वात्मवादी कल्पना मे वह सारे ससार को समेट लेना चाहता है। वह अपने वैयक्तिक उल्लास-विषाद को निखिल विश्व में झंकृत होता हुआ देखता है। उसके बिम्ब में मानवता के अतिरिक्त प्रकृति भी शामिल है। भावनाओं को अशरीरी, अलौकिक और सर्वव्यापी रूप देने के प्रति उसका विशेष आग्रह है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह चिन्तन, दर्शन तथा आध्यात्मिकता का सहारा लेता है। उसे अपने 'स्व' के निरन्तर परिष्कार एव आदर्शीकरण की विशेष चिन्ता है। उसके समर्थक इसे उसकी 'महानता' कहते हैं, कटु आलोचक शायद ईमानदारी पर सन्देह करते हैं परन्तु यह सत्य है कि वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की तरह 'साधारण में असाधारण' अथवा 'असाधारण मे साधारण' की खोज को वह अपनी विशेषता मानता है।

इसके विपरीत परवर्ती गीतकारों ने अपने को साधारण कोटि में ही रखा। बच्चन ने प्रारम्भ में ही कहा 'औलिया-आचार्य बनने की नहीं अभिलाष मेरी।' इन कवियों ने उन सभी तत्त्वों का बहिष्कार किया जो उनके 'स्व' की 'महानता' के दावेदार हो सकते थे। वैयक्तिक उल्लास-विषाद से उनका अर्थ जीवन में प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाएँ, व्यक्तिगत अनुभव और तज्ज-नित भावावेश ही था। इस सम्बन्ध मे पहली वस्तु जो उन्हें भारी लगी और जिसे उन्होंने उतार फेंका, वह था चिन्तन, दर्शन और आध्यात्मिकता का लबादा। इसका यह अर्थ नहीं कि इन कवियों के पास कोई दृष्टिकोण नही है परन्तु उसे वे जीवन-दर्शन या विश्व-दर्शन बनाने की चेष्टा नहीं करते। इसका स्थान भावुकता और आवेग ने ले लिया। इसका सबमे अच्छा उदाहरण इन कवियों के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में मिलता है। छायावादियों की कुतूहल-मिश्रित जिज्ञासा,

और प्राकृतिक सौन्दर्य में सत्यं और शिवं की उपलब्धि एक प्रकार का बौद्धिक प्रक्षेप ही था। दार्शनिकता के अभाव में यह सारा क्षेत्र ही अनावश्यक हो गया। अधिक आग्रह व्यक्ति और उसके दुःख-सुख पर होने के कारण, प्रकृति उद्दीपन का अवलम्ब हो गई। कभी-कभी प्रकृति का मात्र सौन्दर्य-विलास उन्हें आकृष्ट करता है, परन्तु एक नशे की तरह। उसी तरह भावनाओं की अलौकिकता तथा अनुभूतियों की अतीन्द्रियता का स्थान प्रत्यक्ष लौकिक एव पार्थिव अनुभवों ने लिया। इनमें से जिन कवियो ने स्थूल ऐन्द्रिक वासनाओं से परहेज़ किया है उनके भी सुख-दुःख का माध्यम इन्द्रियाँ ही रही हैं, यह स्पष्ट है। इसका परिणाम यह हुआ कि इन कवियों की भाषा, अनुभूति, विकलता, आह्लाद, सुख, दुःख साधारण जनो के अधिक निकट हो गए। उनकी लोकप्रियता का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

छायावाद में से यह सब निकाल देने के बाद प्रेम ही एक ऐसा विषय बचा जो इन कवियों को ग्राह्य था। उन्होने इसकी निर्झरिणी प्रवाहित कर दी। और इसलिए कि पुरानी आध्यात्मिकता का कोई भी कण शेष न रह जाय, उन्होने खुले शब्दों में अपने प्रेम को 'प्यार' कहना शुरू कर दिया।

छायावादियो के प्रेम का लक्ष्य जहाँ अज्ञात है, वहाँ इन कवियो का ज्ञात है। उन्होंने अपने 'इश्क मजाज़ी' को कभी 'इश्क हकीकी' बताने की चेष्टा नहीं की। छायावादियों के प्रेम में प्लेटोनिक और वैष्णवी भावनाओं का सम्मिश्रण है। परवर्ती गीतकारों के प्रेम का आधार यौवन और सेक्स का चुम्बकीय आकर्षण है। यहाँ पर स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि इन गीतकारो का 'प्रेम' रीतिकालीन भावना से भी भिन्न है। यों आचार्य शुक्ल ने तो छायावादियो के बारे में भी कहा था :

"रीतिकाल की शृङ्गारी कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृङ्गारी कविता कभी रहस्य का परदा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदलकर, फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छोड़कर चल रही है।"

परन्तु जहाँ रीतिकालीन कविता में मात्र काम-वासना की दरबारी तृप्ति के ही साधन अधिक एकत्र किये गए हैं, इन गीतकारो का आग्रह प्रेम के भाव पक्ष, निष्ठा, मार्मिकता, सवेदना और रोमास की ओर है। जहाँ छायावादी प्रेमी अपने प्रेय से दूर प्रेम में ही तुष्ट हैं, और रीतिकालीन प्रेमियों ने प्रेयसियों पर कब्जा कर रखा है वहाँ ये नये प्रेमी-प्रेयसि एक दूसरे के पूरक हैं, सगी-साथी हैं। सम्भवत. इनके प्रेम की सफलता विवाह में है। यह निश्चित है कि इस दृष्टिकोण से ये नये कवि यथार्थ के अधिक निकट हैं।

वस्तुतः ये सभी कवि यौवन और भावुक उद्वेगों के कवि हैं। व्यक्तिगत सुख-दुःख को अत्यधिक तीव्रता से अनुभव करने के कारण उनकी अनुभूतियाँ अधिक-से-अधिक स्वकेन्द्रित होती जाती हैं। इसलिए इन कवियों का एकाकीपन या सूनापन अधिक उभरकर आया है। उनके प्रेम की सार्थकता तभी है जब उसमें कोई बटवारा करने वाला न हो। कहा जाता है कि ये कवि निराशावादी हैं। पूर्णतया यह सत्य नहीं है। परन्तु आज की सामाजिक स्थिति में शायद प्रेम की असफलता अधिक होने के कारण दुःखपूर्ण गीतों की बहुतायत है। ऐसी स्थिति में इन दुखित प्रेमियों का सब से तीखा आक्रोश 'ससार' और 'नियति' के विरुद्ध व्यक्त होता है, जिनसे उनका तात्पर्य सामाजिक रूढियाँ हैं। यों अकेलापन तो छायावादी भी महसूस करते थे, और संसार

के प्रति उन्हें भी शिकायत थी, परन्तु उसका आधार उनकी अपने को अलग समझने की भावना ही थी। इन कवियों का कहना है कि न सिर्फ संसार उनकी उद्दाम भावना की सचाई को नहीं देखता, बल्कि उनकी साधारण-सी अभिलाषाओं को भी कुचलने के लिए तैयार रहता है। जहाँ तक व्यक्तिगत प्रेम और हार्दिकता का सवाल है—सामाजिक रूढ़ियों के प्रति इन कविताओं से ज्यादा तीखा विद्रोह किसी में नहीं मिलेगा।

काल, वय और व्यापक प्रभाव की दृष्टि से इस धारा के उन्नायक और काफी हद तक उसकी सम्भावनाओं को विकसित करने वाले बच्चन ही हैं। इधर भारती भण्डार से 'सोपान' नाम से उनकी अब तक की प्रकाशित पुस्तकों में से चुनी हुई ११८ कविताओं का एक अच्छा संग्रह निकला है। इन कविताओं का संकलन स्वयं बच्चन ने किया है। बीस वर्ष की लम्बी अवधि में लिखी गई इन कविताओं में एक स्थायी स्वर है—वह है बच्चन का एण्टी इण्टलेक्चुअलिज़्म, बौद्धिकता-विरोध। प्रारम्भ में उनका 'हालावाद' और 'उमर खैयाम' के प्रति आकर्षण इसका एक अंग ही था। यही वस्तु उनके और 'उमर खैयाम' के बीच अन्तर को भी स्पष्ट करती है। क्योंकि 'उमर खैयाम' की मस्ती, करुणा और निराशा में एक गहरा दार्शनिक पहलू भी है, जिसे बच्चन छू नहीं पाते। 'मधुशाला' और 'बंगाल का काल', 'खादी के फूल' तथा 'सूत की माला' को जोडने वाली कड़ी भी यही है। आज के घोर बुद्धिवादी युग में बच्चन की वह स्थायी दृष्टि, प्रारम्भ में कुछ ताजगी देने वाली थी, अब विस्मय अधिक उत्पन्न करती है। बच्चन कभी धक्का देने या झकझोरने का प्रयास नहीं करते। यदि वे साधारण, नितान्त साधारण, नहीं हैं, तो कुछ भी नहीं हैं। अपनी भूमिका में वे कहते हैं, "मेरी समझ में कविता ऐसी होनी चाहिए जो न तो अपने गुण और शक्ति से पाठक को दबा दे और न ऐसी हो कि उसे कवि की प्रशंसा में उछाल दे।" यदि सचाई, स्थिरता और भावमय प्रक्रिया उच्च कविता के लिए पर्याप्त होती तो बच्चन निस्सन्देह कवियों में अग्रणी होते। परन्तु उच्च कविता केवल अनुभूति ही नहीं है। उसे मूल्यवान अनुभूति भी होना चाहिए। यही बच्चन की सीमा है। परन्तु उनके नितान्त घरेलू वातावरण, हार्दिक भावुकता, बातचीत की शैली, सीधी-सादी प्रत्यक्ष आस्थाओं, विश्लेषण के अभाव, और ग्रन्थिहीन मानसिक प्रतिक्रियाओं ने उन्हें वह लोकसिद्धि प्रदान की है, जो और किसी को प्राप्त नहीं हो सकी। बच्चन रोमांटिक नहीं हैं, वे 'डोमेस्टिक' कवि ही कहे जायँगे।

जीवन बच्चन के लिए एक रूपक है। जब-जब बच्चन की सामान्य अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन हुआ है—और इसके अवसर अक्सर आए हैं—बच्चन ने अपनी शंका का समाधान रूपकों से ही कर लिया है। इन मार्मिक स्थलों पर ही बच्चन की विशेषता उभरकर आई है, और यहीं वे पाठक के हृदय को छू सकने में समर्थ हो सके हैं। साधारण भावनाओं को साधारण, सरल और सीधी भाषा में व्यक्त करना बच्चन की विशेषता है। प्रारम्भ में बच्चन की भाषा में इस सीधेपन के कारण प्रवाह और सहज बोधगम्यता आई। परन्तु इस शैली में एक बहुत बड़ी कमी भी है, जिसने वर्ड्सवर्थ-जैसे कवि को भी 'मिडियाकर' बना दिया। आगे चलकर बच्चन इस शैली को ही सम्भवतः अपनी लोकप्रियता का आधार मान बैठे। परिणाम यह हुआ कि अक्सर कविताएँ प्रभावहीन हो गई हैं। 'बंगाल का काल', 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' में बच्चन की असफलता उनकी शैली और सामर्थ्य की सीमा का अच्छा उदाहरण है। अपनी भूमिका में बच्चन ने अपने प्रति आलोचकों के मौन और हिन्दी जनता की प्रशंसा, प्रेम और प्रोत्साहन का

जिक्र किया है। इन दोनों के कारण वे पाठक और कवि के हृदय को जोड़ने में समर्थ हो सके, इससे अच्छी क्या बात होगी ? परन्तु एक खतरे से आगाह करना आवश्यक है कहीं यह सम्बन्ध शुद्ध व्यापारी न हो जाय।

जिस प्रकार छायावादी कवियों की सफलता का मापदण्ड अनुभूतियों और कल्पना का उदात्तीकरण है, उसी प्रकार परवर्ती गीतकारों की कसौटी उनकी भावना का आवेग और तीखापन है। इस दृष्टिकोण से 'अग्निमा' के लेखक गिरिधर गोपाल में हमें एक अत्यन्त अनुभूतिशील और छा जाने वाले कवि का परिचय मिलता है। गिरिधर पर बच्चन की अस्पष्ट-सी छाप है, परन्तु गिरिधर में एक प्रवेग और शक्ति है जो उनकी अपनी वस्तु है। 'अग्निमा' के अधिकतर गीत मृत्यु की डरावनी छाया मे बैठकर लिखे गए है। परन्तु मृत्यु के इस दिल हिला देने वाले साक्षात्कार ने गिरिधर को उदास, विरक्त या निष्क्रिय नही बनाया है। उनकी तीखी-से-तीखी पुकार के पीछे यौवन और जीवन की वह आवेगमय गति ही है जो सबके बावजूद अपना आधार खोजती है, शिकजे से निकल भागना चाहती है। अन्तिम कविताओ मे अन्धकार के बीच प्रकाश की एक रेखा आई है और कवि सामजस्य की ओर लौटता है। यों प्रकाशवादी कवि आज बहुत हैं परन्तु गिरिधर का अनुभव जितना गहरा, आत्मीय और प्यारा है, उतना कम का होगा। क्योंकि शायद अन्धकार का साक्षात्कार किसी ने इतनी शक्ति से नही किया। गिरिधर की तीव्र अनुभूति ने उनकी उपमाओं, चित्रों, शैली और भाषा मे एक अजब जादू पैदा कर दिया है, जो अपनी मौलिकता के कारण नये-से-नये प्रयोगवादी कवियो को भी चकित करने का सामर्थ्य रखता है। गीतकारो के शब्दो मे इतनी अधिक व्यञ्जना, और चित्रो में इतनी अधिक सजीवता अन्यत्र दुर्लभ है। यदि अन्धकार का साक्षात्कार ही गिरिधर की सीमा न बन गया, तो वे निश्चय ही प्रभावपूर्ण कवि होंगे।

रमानाथ अवस्थी का 'आग और पराग' पिछले पाँच वर्ष में लिखे गए ४० गीतो का सग्रह है। कवि-सम्मेलनो में रमानाथ ने बड़ी ख्याति प्राप्त की है। उनकी शैली मे इसकी ध्वनि है। पक्तियो का चमत्कार और सम की तरह टेक पर टूटने वाली लय, उनके प्रभाव की विशेषता है। उर्दू की गजल की लय और आत्मा उनके गीतो को आकर्षक बनाती है। विवशता और प्यास के इस कवि ने दिल खोलकर प्यार करना ही आदमी की बडी भारी निधि माना है। इसी कारण उनकी विवशता और प्यास मे घुटन नही है, है केवल एक उन्मुक्त हृदय, जो हँस-रोकर जिन्दगी काटने के पक्ष मे है, उसे बोझ बनाने के पक्ष मे नही। इन कविताओ के पीछे एक सरल और मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व की झलक है। "ये कविताएँ देवता नहीं वरन् मनुष्य की छाया के ही नीचे बैठकर सोची और गढी गई हैं।" रमानाथ की 'रेटरिक' शैली ने जहाँ उनकी कविताओं को शक्ति दी है वही भावना के आवेग को कम भी कर दिया है। उनका सफल गीत 'सो न सका कल याद तुम्हारी आई सारी रात, और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात' इसका प्रमाण है।

कोमल-कान्त-पदावलियो के प्रेमी श्रीपालसिंह 'क्षेम' के गीतों का पहला सग्रह 'जीवन-तरी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इतनी मृदुल, मधुर और सौन्दर्य-स्वप्न में डूबी हुई कविताओं का प्रकाशन जरा और सुन्दर ढंग से हुआ होता तो आँखो और मन दोनों ही को सन्तोष मिलता। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भूमिका मे लिखा है, "भाषा के माधुर्य और लाक्षणिकता में, कल्पनाओं की सज्जा और रूपमत्ता में, तथा भावों की सरल और स्वच्छन्द गति में ये गीत तरुण

कवि के कितने उपयुक्त हैं और हिन्दी की गीत-शैली की नवीन कड़ियों का कैसा सुन्दर निर्माण और संगुम्फन करते हैं। बिना किसी बौद्धिक चेष्टा या उपचार के भी इनमें कितना स्वाभाविक आकर्षण है।" सागर के पानी में डूबे हुए फूलों की तरह सपनों की मधुराई है, जिसके लिए शैली ने कहा है, "इतने मीठे, कि कल्पना करते-करते ही चेतना नशे में बेहोश हो जाती है।" लगता है कवि किसी ऐसे स्थान पर खड़ा है जहाँ स्वप्न और सत्य घुल-मिलकर एकाकार हो गए हैं; और जीवन आस्था, विश्वास और हार्दिकता का सन्देश देता है। 'क्षेम' यदि छायावादी विशेषणों का मोह छोड़ सकें, तो यह अनुभव अधिक वास्तविक होकर बहुतों के घाव सहला सकता है।

नई कवयित्रियों में श्रीमती शान्ति एम० ए० ने अपने गीतों द्वारा लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। इधर काफी शीघ्रता से उनके स्वर का विकास हुआ है और उसमें प्रौढ़ता आई है। गीतों का एक नया ही प्रयोग उन्होंने अपनी नई पुस्तक 'चाणक्य' में किया है। चाणक्य-जैसे विषय का गीतों के लिए चयन साहस का कार्य था। परन्तु उसका निर्वाह सफलता से किया गया है। यों प्रसाद जी ने चाणक्य को, महत्त्वाकांक्षा और वेगवान तेज के कारण, 'लीरिकल' बना दिया था। फिर भी श्रीमति शान्ति ने चाणक्य के चारों ओर जन-कल्याण और निष्काम कर्म का आवरण लपेटकर उसकी एक नई कल्पना प्रस्तुत की है। पुस्तक ऐतिहासिक खण्ड-काव्य नहीं है, छोटे-छोटे गीतों में नायक के 'रागात्मक मनोभावों के संकलन एवं आत्म-विश्लेषण' का संग्रह है। बहुत-कुछ टेनीसन के 'माड' की तरह। महत्त्व की बात यह है कि कवयित्री ने चाणक्य को शुष्क बौद्धिकता की परम्परा से छुड़ाकर एक सहृदय, उदार और भावमय किन्तु संयमी और कर्तव्यशील व्यक्ति की भाँति चित्रित करने का प्रयास किया। यही इन गीतों का प्राण है। प्रेमाख्यान के अभाव में गीत मधुर हो सकते हैं, इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। श्रीमती शान्ति के पास अभिव्यंजना के लिए वस्तु और सामर्थ्य दोनों हैं, यह स्पष्ट है।

क्षेम की 'जीवन-तरी' की भूमिका में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "जिस समय हमारे साहित्य को, और विशेषकर रचनात्मक साहित्य को, नाना नवीन वादों के प्रयोग जकड़ते चले जा रहे हैं स्वच्छन्द गीति-परम्परा को आगे बढ़ाने वाली सृष्टियाँ हिन्दी-कविता की मुक्तिकारिणी शक्ति के रूप में ही ग्रहण की जानी चाहिए।" वाजपेयी जी के इस व्यापक निर्णय से सहमत होना कठिन है, परन्तु यह निर्विवाद है कि प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के कोलाहलमय विवाद के बावजूद भी, लगन और धीरज के साथ सौन्दर्य-निर्माण में लगे इन गीतकारों के नये मूल्यांकन की आवश्यकता है। सहसा इन पर लगाए हुए पलायनवाद और बासीपन के दोनों ही आरोप थोथे और असत्य हैं। वस्तुतः ये कवि मानवतावादी हैं। उनकी आस्था, मनोरम-हार्दिकता और स्वप्नमयता निश्चय ही छोटे आदमी की उन साधारण आकांक्षाओं का भावमय समर्थन है जिनके कारण जिन्दगी जीने लायक बनती है और सीधी, उन्मुक्त और सरल आदमियत पर विश्वास जमता है। चाहे एटम-बम का विनाशकारी गर्जन हो, या तानाशाही का साम्राज्यवाद और सामाजिक रूढ़ियों का शिकजा, इन सबके बीच इन कवियों की प्यार और बन्धुत्व से भरी हुई वाणी निश्चय ही एक दृढ़ स्वर की परिचायक है। सामाजिक रूप से इन कवियों की इकाई परिवार में है। न तो एकाकी, अप्रेषणीय व्यक्तित्व ही इनका गन्तव्य है, और न सर्वव्यापी सामाजिक महा सत्ता ही। और यह बात निश्चित है कि पारिवारिक सुख, प्रेम, दुःख, विषाद, उल्लास,

आकर्षण आज भी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं और सम्भवतः इसके मूल्य को अधिक जोर से प्रकाशित करने की आवश्यकता भी महसूस हो रही है। नहीं तो बड़े-बड़े अभियानों में रत विभिन्न उद्देश्यों के राजनीतिक नेतागण—जैसे स्टालिन, हिटलर, चर्चिल, जवाहरलाल, माओ-त्से-तुङ्ग आदि—हँसते हुए बच्चों के बीच अपनी तसवीरें खिंचवाकर दुनिया भर में न बटवाते। यह कहना गलत है कि प्यार में डूब जाने के कारण इन कवियों में सामाजिक संघर्ष और विद्रोह की क्षमता नहीं रह गई है। हो सकता है ये सच्चे और भावुक लोग कुरसियों पर बैठकर इस युग में कूटनीति की गोटें न बैठा सकें, परन्तु ये उन लोगों के उत्तराधिकारी हैं जो मध्यकाल में अपनी प्रेयसी से माथे पर तिलक लगवाकर युद्ध-भूमि में जाते थे और दूसरे सिपाहियों से अच्छा ही लड़ते थे। मैक्सिम गोर्की के अनुसार "कितने युगों से हर काल और राष्ट्र के महान् कवि इस प्रक्रिया को उदात्त बनाने और इन्सान के गौरव के अनुसार उसे सजाने-सँवारने में अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को लगाते रहे हैं ताकि इन्सान अपने को बकरियों, बैलों और सूअरों के स्तर तक न गिरा डालें। सैकड़ों, हजारों शानदार कविताएँ प्रेम की प्रशंसा में लिखी गईं। प्रेम पुरुषों और स्त्रियों की रचनात्मक शक्ति का प्रेरक रहा है। प्रेम ने ही आदमी को सबसे अधिक समझदार जानवरों से भी कहीं अधिक सामाजिक प्राणी बनाया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में क्रियाशील, स्वस्थ और लौकिक रोमांसवाद की कविता सामाजिक शिक्षा का एक अत्यन्त मूल्यवान तत्त्व रही है। शिलर ने कहा, 'प्रेम और भूख ही दुनिया को चलाते हैं।' वस्तुतः प्रेम संस्कृति का आधार है और भूख सभ्यता का[१]।"[२]

●

बच्चनसिंह

छायावाद युग

छायावाद के सम्बन्ध में स्फुट रूप से बहुत-कुछ बातें कही जा चुकी हैं, किन्तु इस युग का समग्र रूप से आकलन 'छायावाद युग' में पहली बार हुआ है। इस युग के आकलनकर्ता श्री शम्भूनाथसिंह वाद की संकीर्णताओं में न बँधकर मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय अतियों से भी मुक्त हैं। उन्होंने समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय समीक्षा-पद्धतियों के समन्वय का प्रयास किया है।

'छायावाद युग' तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में पुनरुत्थान युग (द्विवेदी युग),

---

१. फ्रेंट मैन्स म्यूज़िक।

२. 'सोपान', लेखक—हरिवंशराय बच्चन; प्रकाशक—भारती भण्डार, प्रयाग। 'अग्निमा' लेखक—गिरधर गोपाल एम० ए०, प्रकाशक—न्यू लिटरेचर, प्रयाग। 'आग और पराग' लेखक—रमानाथ अवस्थी, प्रकाशक - सीता प्रकाशन, कानपुर। 'जीवन-तरी' लेखक—श्रीपालसिंह 'क्षेम'; प्रकाशक—शशांक प्रकाशन-गृह, जौनपुर 'चाणक्य' लेखिका—शान्ति एम० ए०; प्रकाशक—अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।

विद्रोह युग (छायावाद युग), विद्रोह युग की कविता और दार्शनिक पीठिका का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। द्वितीय खण्ड में छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों तथा विषय-वस्तु का विवरण-विश्लेषण है। तृतीय खण्ड में आठ अध्यायों के अन्तर्गत रचना-प्रक्रिया, काव्य के रूप, अभिव्यक्ति, अलकार-विधान, चित्रण-कला, शैलीगत विशेषताएँ, भाषा और शब्द-चयन और छन्द और लय के सम्बन्ध में विचार किया गया है। दूसरे शब्दो में प्रथम खण्ड को पृष्ठभूमि और परिचय, दूसरे खण्ड को प्रवृत्तियाँ और विषय-वस्तु और तीसरे को रचना-प्रक्रिया और कला-सौष्ठव कहा गया है।

'छायावाद युग' का तीसरा खण्ड पुस्तक का आधे से अधिक भाग घेर लेता है। तीसरे खण्ड में कुल २०८ पृष्ठ खर्च किये गए हैं, और पहले और दूसरे खण्ड में १८४। इससे पुस्तक के सन्तुलन में बाधा पड गई है। यदि तीसरे खण्ड के कुछ पृष्ठो का उपयोग द्वितीय खण्ड में किया गया होता तो तीसरे खण्ड के कुछ प्रसगों की विवृति कम हो गई होती और द्वितीय खण्ड को आवश्यक विस्तार का अवसर भी मिल जाता।

द्विवेदी युग को शम्भूनाथसिंह जी ने पुनरुत्थानवादी युग कहा है। इस युग की दो प्रमुख प्रवृत्तियो—पुनरावर्तन और समझौते—का विवेचन ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर किया गया है। समझौते का अर्थ है सामन्तवाद और पूँजीवाद का समझौता। सास्कृतिक आन्दोलनो के कारण पुनरावर्तन और राष्ट्रीयता (हिन्दू राष्ट्रीयता ?) की प्रवृत्ति बढी। सामन्तवाद और पूँजीवाद के समझौते का परिणाम तीन रूपो में दिखाई पडा—(१) भाषा सस्कृत गर्भित हुई, (२) काव्य-विषय को युग की मान्यताओं के अनुरूप बनाया गया, और (३) मर्यादा और नीतिमत्ता के प्रति कवियो का रुझान अधिक दिखाई पड़ा।

सास्कृतिक आन्दोलनों तथा सामन्तवाद-पूँजीवाद के समझौते के प्रभाव-क्षेत्रों को अलग-अलग नही बाँटा जा सकता। प्रत्येक प्रभाव-क्षेत्र को समन्वित रूप से दोनों प्रभावित करते हैं। सामन्तवाद और पूँजीवाद के समझौते के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले गए हैं उनके पीछे सास्कृतिक आन्दोलनो का भी हाथ था। पहले और तीसरे निष्कर्षों को आर्य समाज की सात्विक (Puriton) भावना ने प्रभावित किया तो दूसरे निष्कर्ष को पाश्चात्य विचार-धारा से सवलित ब्रह्म-समाज तथा थियोसॉफी के आन्दोलन ने।

'विद्रोह युग' में छायावादकालीन उद्योग-धन्धो तथा राजनीतिक आन्दोलनों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। विकासोन्मुख पूँजीवाद को स्पष्ट करने के लिए वैसा करना अनिवार्य था। इतना अवश्य है कि ऐतिहासिक ब्यौरों और आर्थिक आँकड़ों की निवृत्ति आवश्यकता से अधिक हो गई है।

'विद्रोह युग की कविता' अध्याय खूब जमकर लिखा गया है। इस अध्याय को लिखने में काडवेल की विचार-पद्धति लेखक के सामने बराबर रही है। ग्रन्थ के प्राक्कथन में लेखक ने काडवेल के प्रति अपना आभार प्रदर्शित किया है। उसकी विचार-सरणि को दृष्टि में रखते हुए लेखक ने यहाँ की आर्थिक और सास्कृतिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखा है। यह उसकी विचारणा और स्वतन्त्र चिन्तन का द्योतक है।

इस युग को शम्भूनाथ जी ने दो मंजिलों में बाँट दिया है। १९१९ से '३० तक पहली मंजिल है, और १९३० से १९३९ तक दूसरी मंजिल। इन दो मंजिलों की विभाजक रेखा पूँजीवादी

स्वतन्त्रता के भ्रम का ध्वस है। पहली मजिल मे पूँजीवादजन्य वैयक्तित स्वतन्त्रता के भ्रम का पूरा-पूरा उद्‌घाटन किया गया है। इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता के भ्रम के फलस्वरूप पुनरावर्तन का भ्रम, छायावाद का भ्रम तथा समाज से मुक्ति पाने का भ्रम उत्पन्न हुआ। अन्तिम भ्रम की सृष्टि के साथ वैयक्तिक स्वातन्त्र्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और सामाजिकता की प्रवृत्ति लुप्त-सी हो जाती है। छायावाद की दूसरी मजिल मे पूँजीवाद अपने नग्न रूप मे दिखाई पड़ता है, और भ्रम की रेखाएँ मिटने लगती है। इस काल की रचनाएँ दो रूपो मे व्यक्त हुई—मृत्यु-पूजा, क्षयी रोमास, अस्वस्थ ऐन्द्रिकता के रूप मे और मानवतावादी आदर्शात्मक प्रवृत्तियो के रूप मे। प्रथम के मूल मे घोर निराशा की भावना है तो द्वितीय के मूल में दार्शनिक चिन्तन की प्रेरणा।

शम्भूनाथ जी ने जिस पूँजीवादी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है वह सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी अस्त्र का काम करती है। पूँजीवाद उत्पादन के साधनों को ही नही बदलता बल्कि वितरण की व्यवस्था मे भी आमूल परिवर्तन करता है। इस नई व्यवस्था के कारण व्यक्तिवाद का जन्म होता है। कालान्तर में यह पूँजीवादी वर्ग इसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अस्त्र से दूसरे वर्गों का शोषण करता है। पूँजीवादी स्वतन्त्रता का अन्तर्विरोध उसे सर्वहारा-वर्ग का साथी बना देता है। सब मिलाकर छायावादयुगीन पूँजीवाद का रोल क्रान्तिकारी ही कहा जायगा। गोर्की ने एक स्थान पर कहा है कि जब कभी मार्क्सवादी दृष्टि से सस्कृति का इतिहास लिखा जायगा, बुर्जुआवर्ग की सास्कृतिक देन का अतिरिक्त मूल्याकन होगा। साहित्यिक क्षेत्र मे इस मूल्याकन का विशिष्ट महत्त्व होगा। शम्भूनाथसिंह जी ने पूँजीपतिवर्ग की सास्कृतिक देनो तथा ह्रासोन्मुखी काल मे उसकी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो का अच्छी तरह विचार किया है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में छायावाद युग की प्रमुख प्रवृत्तियों और विषय-वस्तु का विवेचन हुआ है। इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियों—वैयक्तिकता की भावना, कल्पना-लोक और आध्यात्मिकता, वेदना का स्वर, निराशावाद आदि—पर विचार करते हुए इनके मूल कारणो पर भी प्रकाश डाला गया है। विषय-वस्तु को चार भागो मे बॉटा गया है—प्रेम-भावना, सौन्दर्य-भावना और प्रकृति, तत्त्व-चिन्तन और यथार्थ की ओर। प्रत्येक भाग की विवेचना अलग-अलग अध्याय मे की गई है।

'प्रेम-भावना' मे प्रेम के लौकिक और पारलौकिक रूपों का विवेचन हुआ है। छायावादी कवियों ने सौन्दर्य की स्थिति वस्तु मे न मानकर अपने मन में ही मानी। इसके लिए शम्भूनाथ-सिंह जी ने दो कारणों का उल्लेख किया है—(१) पूँजीवाद के विकास के समय सौन्दर्य को विषयी-निष्ठ मानने वाली पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव और (२) काण्ट, हीगेल, गेटे, बर्गसाँ के सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों का प्रभाव।

पूँजीवाद के विकास के समय सौदर्य को विषयी-निष्ठ मानने का समाजशास्त्रीय कारण क्या है। इस पर अच्छी तरह विचार नहीं हुआ है। पूँजीवाद की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सभी प्रकार के मूल्यों (Values) की निहिति व्यक्ति में ही मानती है। उसके लिए परिवेश का कोई महत्त्व नहीं है। परिवेश मे किसी प्रकार के मूल्य का आरोप करके पूँजीवाद की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उसके साथ सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहती। इसलिए सौन्दर्य की स्थिति भी व्यक्ति के मन

में ही मानी गई। छायावाद का विकासोन्मुख पूँजीवाद बहुत-कुछ इस भावना के अनुकूल था।

शंभूनाथसिंह जी मार्क्सवादी विचार-धारा के अनुरूप मनुष्य और प्रवृत्ति का सम्बन्ध संघर्षजन्य मानते हैं। उसके अतिरिक्त प्रवृत्ति में परोक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति, प्रतीक, संकेत आदि की सूक्ष्म दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है। छायावादी तत्त्व-चिन्तन को भारतीय परम्परा की अविच्छिन्न शृङ्खला की एक कड़ी के रूप में देखने का परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न युगों की चिन्ता-धारा की विशेषताएँ भी उद्घाटित होती गई हैं। सन् १९३०-३९ तक की कविताओं में राष्ट्रीयता, वर्ग-संघर्ष की भावना, अहं और निराशा, मधुचर्या और ऐन्द्रिकता का प्राधान्य हुआ। ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद की पीठिका पर उपर्युक्त प्रवृत्तियों का विश्लेषण हुआ है।

छायावाद युग के तृतीय खण्ड में नौ लम्बे-लम्बे अध्याय हैं। यद्यपि इस विस्तार के कारणों का उल्लेख शंभूनाथसिंह जी ने प्रारम्भ में ही कर दिया है, तथापि इस खण्ड का इतना विस्तार अपेक्षित न था। रीति विचार से छायावाद का कोई सम्बन्ध नहीं था, इसे छोड़ा जा सकता था। वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद की इतनी विस्तृत व्याख्या विवेच्य के मेल में नहीं है। यही बात शैली की मनोवैज्ञानिक विवेचना के सम्बन्ध में भी अंशतः लागू है।

काव्य-रूपों का स्वरूप-विवेचन तो शंभूनाथसिंह जी ने बहुत-कुछ सुलझे हुए ढंग से किया है किन्तु जहाँ पाश्चात्य काव्य-रूपों के आधार पर उन्होंने हिन्दी कविता की जाँच की है वहाँ सम्भवतः शीघ्रता के कारण कई अशुद्धियाँ रह गई हैं। 'रामचरितमानस' और 'यमुना के प्रति' को उन्होंने वीर-गीति माना है। वीर-गीति (Ballad) के सम्बन्ध में डब्ल्यू० पी० केर का कथन है, "The ballads are like the true heroic poem in the essence of their plots." 'रामचरितमानस' भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है, वीरता-प्रधान नहीं। 'यमुना के प्रति' में तो कथावस्तु है ही नहीं। यह सम्बोध-गीति (Ode) है। प्रसाद का 'आँसू' और पन्त का 'उच्छ्वास' शोक-गीति (Elegy) नहीं हैं, ये वियोग शृङ्गार की रचनाएँ हैं। 'सरोज-स्मृति', जो हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शोक-गीति (Elegy) है, व्यंग्य-गीति के अन्तर्गत रख दी गई है। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें एक स्थान पर अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य-विधान है, पर उसका मूल स्वर वैयक्तिक शोक से युक्त है।

रस, रसाभास, भाव, भावाभास आदि की शास्त्रीय विवेचना करते हुए शम्भूनाथसिंह जी ने परिवर्तित युग-प्रवृत्तियों के अनुरूप नये औचित्य की बात उठाई है। लेखक ने जड़ प्रकृति में चेतना का आरोप होने के कारण 'जुही की कली' और 'पवन की रति-क्रीडा'-वर्णन को शृङ्गार रस माना है। यह स्थापना नवीन दृष्टि से एक विचारणीय समस्या उपस्थित करती है। मेरी दृष्टि में न तो यह शास्त्रीय दृष्टि से ही शृङ्गार की कोटि में रखी जा सकती है और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही। रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद का विस्तृत परिचय देते हुए छायावादी कवियों की कविताओं में इन्हें एक साथ ढूँढ निकालने का प्रयास श्रमसाध्य तथा नवीन है।

'भाषा और शब्द-चयन' वाला प्रसंग बड़े परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया है। कविता की भाषा का वैशिष्ट्य, लय, छायावादी कविता की भाषागत नवीनता आदि के मूल में पैठकर उनकी बारीकियों की छानबीन की गई है। शब्दों की आत्मा का ज्ञान, शब्द-भ्रम, पुनरुक्ति, ग्राम्य-प्रयोग, शब्द-मोह की विवेचना के साथ ही छायावादी कवियों की कविताओं में इन्हें ढूँढ निकालने से इस विवेचना का मूल्य और बढ़ गया है। शम्भूनाथसिंह जी स्वयं कृती कवि हैं। अतः शब्द की बारीकियों की पहचान उनके लिए स्वाभाविक है। वैसे शब्दों पर विचार करते समय एकाध

जगह वे जरूर चूक गए हैं। 'तन्वि' से उन्होंने केवल 'विरह-दुर्बल नायिका' अर्थ लेकर निराला की 'सरोज-स्मृति' में इसके प्रयोग में अनौचित्य देखा है। पर इस शब्द का मूल अर्थ केवल कृशांगी स्त्री ही है—'अप्रभूतमतनीयसि तन्वी' (माघ)।

'छन्द और लय' के प्रकरण में लेखक ने बतलाया है कि शारीरिक गठन की भिन्नता के कारण लय आत्मगत होती है। किन्तु सहजात प्रवृत्तियों की समानता के कारण लय समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को एकसूत्रता में बाँधती हैं। इस सम्बन्ध में उस प्रक्रिया का विवेचन छूट गया है जिससे लय अन्तर्मुखी भावात्मक प्रवृत्तियों तथा सामाजिक सम्बन्धों में सन्तुलन स्थापित करती है। बाह्य सामाजिक एकरूपता की चेतना बुद्धिजन्य होती है और सहजात (भावजन्य) एकरूपता रागजन्य। लय बाह्य सामाजिक एकरूपता से दूर खींचकर सहजात एकरूपता के आधार पर सामाजिक प्राणियों में एकसूत्रता स्थापित करती है।

छन्द में लय (Rhythm) सामंजस्य (Harmony) और संगीत तत्त्व (Melody) की निहिति मानी गई है। शम्भूनाथसिंह जी ने इन तीनों तत्त्वों पर अच्छी तरह विचार किया है। प्रगतिवादी विचार-धारा के अनुसार मुक्त छन्द का आरम्भ तब होता है जब कवि छन्द और लय का तिरस्कार करके 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त को मान लेता है। अब इस सम्बन्ध में दो प्रश्न उठते हैं—क्या छायावाद के जिन कवियों ने मुक्त छन्द का प्रयोग किया है वे 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पक्षपाती हैं? कुछ प्रगतिवादी कवियों ने प्रायः लय-छन्द-शून्य मुक्त छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु उनके माध्यम से जनवादी भावनाएँ व्यक्त की हैं। इनका मेल उक्त सिद्धान्त से किस प्रकार होगा? किन्तु इन प्रश्नों को वहाँ नहीं उठाया गया है। छन्द और लय पर जिस ढंग से विचार किया गया है, वह हिन्दी के लिए नवीन है।

संक्षेप में 'छायावाद युग' अपने ढंग की पहली और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। यद्यपि इसके मूल्यांकन का मूलाधार समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति है तथापि यथास्थान मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली का भी सहारा लिया गया है। मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय समीक्षा-पद्धतियों के भीतर-भीतर लेखक की समाजशास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति बहती रहती है। लेखक ने जिस वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण समीक्षा-प्रणाली का सहारा लिया है उसमें विश्लेषण की गहराई प्रायः सर्वत्र मिलेगी। इस पुस्तक के रूप में नवीन सम्भावनाओं से युक्त जो स्वस्थ साहित्यिक दृष्टिकोण सामने आता है वह हिन्दी-समीक्षा-साहित्य के उन्नयन में निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।[१]

●

१ लेखक—शम्भूनाथसिंह, प्रकाशक—सरस्वती मन्दिर, बनारस।

डा० रांगेय राघव

नये युग में पुराने सन्देह

संस्कारों की अनुभूति पीछे खींचती हुई भले ही दिखाई दे, कवि का चिन्तन यदि आगे बढ़ाने वाला है तो उसी भाग को ग्रहण करना विकास की सहायता करना है 'यथार्थ और कल्पना' तथा 'युग दीप' इसके उदाहरण हैं। दोनों पुस्तकें हिन्दी के पुराने गएयमान्य लेखकों में से एक व्यक्ति ने लिखी है और इनमें नवीन विचार-धाराओं का आभास ही नही प्रतिफलन मिलता है। 'यथार्थ और कल्पना' की भूमिका मे लेखक ने साहित्य के दीर्घ पथ की तीस-बत्तीस वर्ष की यात्रा करके कुछ अपने निष्कर्ष निकाले हैं। कविता के विषय मैं स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्र ने कालिदास को सम्बोधित करके आज के युग की यथार्थ वास्तविकता का मज़ाक के तौर पर वर्णन किया था, भट्टजी ने भी उसी रूप मे आज की कविता को उच्छृङ्खल माना है। हर्ष है कि नवयुग के नव रूपो के इस अन्वेषण को उन्होंने व्यावहारिकता के रूप मे अततोगत्वा स्वीकार कर लिया है। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि कविता की सामतीय वेश-भूषा उतर गई है और नया समाज क्योंकि स्वय अभी फटे वस्त्र पहने है, काव्य भी उन्ही मे दिखाई दे रहा है। किन्तु कविता के भविष्य के विषय मे कवि को जितना भय है, उतने की वास्तव में आवश्यकता नही है। स्वस्थ और सुन्दर समाज के विकास की भाँति काव्य भी सुन्दर और स्वस्थ होता जायगा। जब भी साहित्य में कोई युग बदलता है, तब प्रारम्भ मे अनर्गलताएँ होती हैं, परन्तु समय उनको धो देता है। जहाँ तक काव्य के ध्येय मे मनुष्य का मनुष्य से युद्ध है, वह तब तक है जब तक मनुष्य पर मनुष्य अत्याचार कर रहा है, उसके बाद वह प्रकृति से सघर्ष करेगा और 'ईश्वर' की खोज करेगा, उससे युद्ध नही। जिसे हम ईश्वर कहते है, उसका कोई एक रूप नहीं है। विभिन्न सम्प्रदाय और आचार्य भी ईश्वर के विषय में एकमत नही है। वास्तव मे ईश्वर का अर्थ है—सृष्टि के रहस्य की खोज। और मानव उसीमें लगेगा, उसी समाज को लाने के लिए, जिसमे मनुष्य को इतना अवकाश होगा, बुद्धि होगी, आज का यह विप्लवी सघर्ष चल रहा है, और काव्य भी उसकी शक्तियों के अनेक रूपों में से एक है। विश्व-मगल की कामना भी युगान्तर के सघर्ष का ही विचार है जब कवि आशीर्वाद देता है कि युगो से लडते मानव, तू एक दिन सुखी हो, तुझे सुख प्राप्त हो।

प्रेम का रूप सबसे अधिक काव्य में प्रकट होता है। प्रेम न कोई कल्पना की चीज है, न पलायन है। प्रेम हमारे अस्तित्व का विश्वास है, हमें एक-दूसरे से जोड़े रखने की गम्भीर साधना है।

हिन्दी में जो तथाकथित प्रगतिशील मार्क्सवादियों में बहुत से कुत्सित समाजशास्त्री भी हैं? वे भौतिकवाद को ही अन्त मानते रहे हैं। परन्तु भौतिकवाद आधार होते हुए भी, विकास के क्षेत्र में अधूरा है, जब तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार नही किया जाय। यदि भट्टजी 'मैं' और 'हम' की अनुभूतियों के पड़ावों को इस सतत गतिशीलता की कसौटी पर देखेंगे तो वे दूसरे ही निष्कर्षों पर पहुँचेंगे। प्रगति का कोई भी रूप 'स्फटिक स्वच्छ सरोवर-तट पर चिन्तन के आत्म-विभोर कल्हारों का मधुर मकरन्द आज भी भीनी भीनी सुरभि लेकर शान्त पथिकों को तृप्ति दान करता आ रहा है' जैसी भावना का विरोधी नहीं है। वह नये सरोवर बनवाने के पक्ष

में है, जहाँ और अधिक कल्हार उग सकें ।

प्रगतिवाद के विश्वास, उसकी आर्थिक योजना की महत्ता की स्वीकृति को भट्टजी 'भारतीय जीवन के परम्परा-प्राप्त विवेक के सुसंस्कृतालोक में विश्वास' से अलग समझते हैं। यह वास्तव में कुत्सित समाजशास्त्रियो के अनर्गल प्रलापों का परिणाम है कि वे बरगला गए हैं। हमारे भारतीय जीवन के परम्परा-प्राप्त विवेक के सुसंस्कृतालोक के विश्वास' में चिन्तन के आस्तिक और नास्तिक दोनों ही रूप हैं। अतः अभिव्यक्ति के जिस विश्वास और भक्ति पक्ष को भट्टजी लेकर चले है केवल वह ही भारतीय चिन्तन हो, सो तो नही कहा जा सकता। बौद्ध और जैन दृष्टिकोण से वेदान्त के यह क्षीण स्वराभास भी एक सम्प्रदायानुकरण ही समझे जायँगे। अतः अभिव्यक्ति के रूपो को सापेक्ष दृष्टिकोण से देखने पर प्रकट होगा कि हमारा चिन्तन एक दीर्घ पथ है, उस पर अनेक विचार हैं। उन्हे लघुता या एकान्तीकरण की परिसीमा मे बाँधा नहीं जा सकता। हमें बौद्धिक स्वतन्त्रता की जो विरासत भारतीय चिन्तन ने दी है, वह पाश्चात्य संस्कृति कहाँ देती है। मनुष्य के कल्याण का प्रत्येक स्वर हमारी परम्परा की विरासत है और वही अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। इस दृष्टिकोण से देखने पर हमारे सामने भट्ट जी के भय सन्देह-मात्र बन कर आते हैं, जैसे वे स्वय जिज्ञासु हैं। यही 'युग दीप' की भूमिका मे भी प्रकट होता है। उन्होंने युद्ध-काल की कविताओं का आधार 'पर्सनल' रखा है, जब कि वह संघर्ष सामूहिक था। अभिव्यक्ति का व्यक्तिगत होना काव्य की एक शैली है, किन्तु चिन्तन के आधार का व्यक्तिमूलक होना, वही भय है जिसकी ओर हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। आर्थिक जीवन ही सब-कुछ है, भट्ट जी को कुत्सित समाजशास्त्रियों ने बार-बार उलझाया है, और स्वतन्त्र-चेता कवि जीवन के एक ही पक्ष से सब-कुछ कभी स्वीकार नही कर सकता, क्योकि वह संस्कृति का पहरुआ होता है। अतः भट्ट जी ने भी उसे स्वीकार नही किया है। परन्तु उसके बाद जो उनकी स्वीकृति है, वह व्यक्तिमूलक है, आस्तिकवादीन परम्परा के सम्प्रदायों के निष्कर्ष के रूप मे प्रस्तुत है। केवल वही सब-कुछ है, कहकर उसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य का व्यक्तित्व निश्चय ही बदल रहा है। क्योंकि उसके व्यक्ति के निर्माता सामाजिक आधार बदलते जा रहे हैं। सारा झंझट है कि भट्टजी राजनीतिक पर्चों को छन्दबद्ध करने में इति नहीं समझते, और यह करना भी नही चाहिए। परन्तु फिर जो उन्होंने कहा है, वह असंगतिजन्य नही, परम्परा के मोहजन्य परिणामो में से एक है, किन्तु सबसे बडा हर्ष है उनका स्वर व्यावहारिक रूप से सचेत है और नवयुग के प्रति ही अधिक है। उनका सन्देह दोनों काव्यों में उतना बड़ा नहीं, जितना बडा उनका नया रूप है, क्योंकि पाठक पर नये विचारो का ही प्रभाव अधिक पड़ता है। तभी वे कहते हैं :

मैं श्वास छोड़ता चलता नव आशा स्वप्न सँजोकर
विश्वास जोड़ता चलता जीवन में हास भिगोकर।[1]

अपने इसी विश्वास मे वे अनुभव करते हैं कि आज उनके साथ नया जीवन चल रहा है, अर्थात् वे स्वय नवजीवन के एक अंश हैं। कवि का यह मैं प्रकृति, सृष्टि, समय सबमे चलता है, परन्तु वे स्वय मनुष्य के विषय में लिखकर कविता का अन्त करते हैं :

मैं चलता मेरे साथ जाति, संस्कृति चलती है,
मैं चलता मेरे साथ संचिता स्मृति चलती है।[2]

---

१. यथार्थ और कल्पना, पृष्ठ १। २. वही, पृष्ठ ३।

सस्कृति एक व्यक्ति की नहीं, परम्परा से प्राप्त है, यह 'सन्चिता' से प्रकट होता है।

'साहित्य-स्रष्टा मैं' एक तीखा व्यग्य है, जिससे कवि आज की ऐंग्लो इडियन अधकचरी संस्कृति पर चोट करता है। यहाँ कवि अपने को मानववादी स्वीकार करता है। और इसीसे वह आगे कहता है :

समय के सभी साथ जीवन बदलते,
समय को बदलता हुआ तू चला चल।[१]

'मैं' की यात्रा और 'आत्म-सम्मान' की भूख क्यो कवि को सता उठी है ? क्योंकि आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक विषमता ने मनुष्य के निजत्व को रुपयो के बल पर आँकना सीख लिया है। उसी अह का गौरव पुकारता है :

प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी,
कदम ये रुके हैं, न रुक पायँगे ही।[२]
न मैं चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मैं चाहता व्यक्ति का रूप धरना।[3]

कवि का मन अपने विश्वासो से यहाँ नही चलता। उसके विचार और अनुभूति उसे सत्य की भूमि पर ला पटकते है, और वह कहता है .

सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे,
चलूँगा सभी विश्व को साथ घेरे।[४]

इमी व्याप्ति का नाम सामाजिकता का आधार है। उसका वही स्वप्न है जो भट्टजी ने स्वय खींचा है :

जहाँ एक ही जाति होगी धरा पर
जहाँ एक नर पाँति होगी धरा पर,
जहाँ संघ में प्राण अनुरक्ति होगी,
वहाँ प्रेम होगा, वहीं शक्ति होगी,
वहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय में—
किसी दिन कभी तो पहुँच जायेंगे ही—
प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी,
कदम ये रुके हैं, न रुक पायेंगे ही।[५]

किन्तु स्वतन्त्रता पर लिखी कविता सप्राण नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्रता स्वयं सप्राण नहीं थी। कवि ने और आगे बढने का यत्न किया है। क्लर्क का चित्रण बहुत स्वाभाविक हुआ है :

निर्बल कन्धों पर ढो-ढोकर
नित काग़ज़ के नये ताज़िये—
जिस पर यह सरकार खड़ी है।
न्याय पताका लहरित, शोषित, .

अफ़सरों के जघन्य और विकृत जीवन पर कवि ने लिखा है :

साधारण मानव से जिसको—

१. 'यथार्थ और कल्पना', पृष्ठ २४। २. वही, पृष्ठ ३६। ३. वही, पृष्ठ ३७। ४. वही, पृष्ठ ३७। ५. वही, पृष्ठ ३८।

हँसना, करना बात मना है,
पैदल चलना जिसे मना है,
केवल उसका निज समाज है—
अमलतास-सा लम्बा सुन्दर।

'सुन्दर' न लिखकर और कुछ लिखते तो कहीं ठीक रहता।

'युग दीप' की कविताओं में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अधिक सफल हुई है। कवि क्या कहता है, वही नहीं, कितने सुन्दर ढग से कहता है, यह ही उसका गुण है :

संध्या-प्रभात, दिन-रात पिये, अगणित बसन्त, बरसात पिये
अगणित गरमी हिम-पात पिये
तूफ़ान मिले न हुआ धुँधला,—धीरे-धीरे युग दीप जला।[1]

मानव की अर्थ, स्वार्थ तथा शुद्धपरायणता का रक्त पीकर वह उजला हुआ है। मानव की चर्बी से भरकर, लाशों की बत्ती बनाकर, अनन्त संघर्ष निगलकर, भू का आलोकित सीप ही वह दीप है, जो युग-दीप बनकर जल रहा है। युद्ध ने जो सबको घेरा है तो कवि कहता है :

मनुष्य-मात्र एक है, मनुष्य ही विवेक है,
मार्ग यदि अनेक हैं—लक्ष्य एक उज्ज्वल।[2]

इस उज्ज्वल लक्ष्य के कारण ही कवि ने कहा है :

आशा ही आशा में मेरा सारा जीवन बन गीत गया।[3]

आशा से जीवन का गीत बन जाना निश्चय ही कल्याण का द्योतक है। दीपक अनन्त अन्धकार को सिर पर धरकर अकेला जीवित है। उदय ही मरण का पन्थ बनता जा रहा है। दीप और अन्धकार की बात में दीपक ही विजयी होता है। युद्ध की भयानकता देखकर अवश्य कवि घबरा जाता है। तब वह विभ्रम से सन्देश के अनेक स्वर उठाता है, पर उसका अपनत्व चिल्लाता है :

मैं कब हारा, मैं कब हारा,
सागर में गोते खा मैंने पाया सही किनारा।[4]

तभी उसका विद्रोही कहता है :

गीत गाता हूँ इधर, भीतर उधर है आग।[5]

इस समाज मे व्यक्ति को सुख नही मिलता क्योंकि विषमताएँ उसे हर ओर घेरे रहती हैं :

आज सैंतालीस वर्षों के समीक्षण मूक ··
· मैं नहीं वह मैं, न मेरी उलझती चितवन ?[6]

और यह निराशा और भी बढती है :

ऊब चुका हूँ मैं जीवन से
मरण माँगने को अति आतुर
मेरे रोम रोम के चिन्तन
लगा न मुझको सके किनारे।[7]

---

१. 'युग दीप', पृष्ठ १। २ वही, पृष्ठ २। ३. वही, पृष्ठ ३। ४. वही, पृष्ठ १२। ५. वही, पृष्ठ १४। ६. वही, पृष्ठ १८। ७ वही, पृष्ठ २०।

कई कविताओं में लगता है कि यह व्यक्ति टूट जायगा, परन्तु वास्तव में यह व्यक्ति सस्कारों की अनुभूतियों में अकेला लगता है। वह अपना एक सामाजिक स्वरूप भी लिये हुए है। दोनों काव्य-संग्रह विश्वास का स्वर अधिक देते हैं। यदि कुत्सित समाजशास्त्री के दृष्टिकोण से देखा जायगा तो हमें इन काव्यों की निराशा को ही पकडकर 'क्रान्ति-क्रान्ति' चिल्लाना पड़ेगा, किन्तु वह शक्ति के अपव्यय की बात है, शक्ति को संचित करना नहीं।

'दीप' और 'कल्पना' के छायावादी रूपों पर वास्तव मे 'युग' और 'यथार्थ' की विजय अधिक स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि

आज विवशताएँ प्राणों की एक नया तूफ़ान लिये हैं।

विवशताएँ जब पराजित नहीं हैं, बवडर बनी हैं, तो वह विस्फोट चाहती हैं। विस्फोट के दो रूप हैं, व्यक्तिमूलक अराजकता, या सामाजिक। भट्ट जी में दूसरा पक्ष मान्य है। इस विवेचन से सैद्धान्तिक मानदण्डो को स्पष्ट होना चाहिए कि नये काव्य का विकास किधर हो रहा है और उसके आधार कितने गहरे हो चुके हैं। खेद है कुत्सित समाजशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करेगे।[1]

●

गगाप्रसाद मिश्र

यशपाल की समस्यामूलक कहानियाँ

यशपाल की नई समस्यामूलक कहानियाँ 'चित्र का शीर्षक' नामक कृति में संकलित हैं। इस कहानी सग्रह की भूमिका में यशपाल जी ने गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक उद्धरण के आधार पर प्रकट किये हुए मन्तव्य की आलोचना करते हुए यह स्पष्ट किया है कि कहानी लिखने का उद्देश्य क्या है। गुरुदेव के उद्धरण के आधार पर निम्न लिखित मन्तव्य प्रकट किया गया है : "कहानी का उद्देश्य केवल कहानी है, कहानी-लेखक कहानी लिखना या सुनना चाहता है इसलिए कहानी लिखता है। कहानी लिखने या सुनने या पढने से जो सन्तोष होता है, वही कहानी का आद्योपान्त उद्देश्य और लक्ष्य है, अन्य कुछ नही।" यशपाल जी ने उपर्युक्त कथन की आलोचना करते हुए लिखा है कि इसका उद्देश्य प्रगतिवादी लेखकों को शिक्षा देना है, जो कहानी को सामाजिक उद्बोधन और समाज की आर्थिक, सास्कृतिक और राजनैतिक समस्याओं के हल का साधन बनाना चाहते हैं। गुरुदेव के समान मानवता से आत्मीयता स्थापित कर सकने वाले कलाकार की गवाही से कहानी का प्रयोजन 'कला के लिए कला' या कहानी से रस लेना ही बता देने के पश्चात् नौसिखिये प्रगतिवादी लेखक की बात का शायद कुछ मूल्य रह ही नहीं जाता। यशपाल जी ने लिखा है—"लेकिन गुरुदेव के वचन सब लोगों के मुख में जाकर एक-सा अर्थ नहीं रखते, क्योंकि वचनों का महत्त्व कहने वाले के व्यक्तित्व पर बहुत-कुछ निर्भर होता है।" यशपाल जी ने लिखा है कि "कहानी से रस मिलने का कारण पाठक का कहानी के

---

1. 'यथार्थ और कल्पना' तथा 'युगदीप', लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

पात्र के जीवन और व्यवहार के प्रति कौतूहल और उत्सुकता है। कहानीकार की कहानी सुनाने की इच्छा का स्रोत पाठकों या श्रोताओं से सामाजिक सम्बन्ध के आवश्यकतानुकूल काल्पनिक चित्रों द्वारा अनुभूति और विचारों के आदान-प्रदान का अवसर पाना ही है। इस सामाजिक चित्र से कथाकार और श्रोता दोनों की ही अनुभूतिगम्य आत्मीयता होना आवश्यक है। इस प्रकार कहानी मूलतः एक सामाजिक वस्तु हो जाती है और उसे केवल व्यक्तिगत सन्तोष का साधन कहकर छोड़ देना कहानी के मूल तत्त्व से इन्कार कर देना होगा। कहानी से पड़ने वाला प्रभाव ही उसका प्रयोजन और उद्देश्य है।

गुरुदेव और यशपाल के ये वक्तव्य साधारणतया एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होते हैं और किसी सीमा तक हैं भी, परन्तु यदि इन दोनों वक्तव्यों की परीक्षा की जाय और हम उदाहरण लेकर देखें तो बात स्पष्ट हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' को स्वान्तः सुखाय रचित बतलाया है, परन्तु लोक-कल्याण और बहुजन-हित की दृष्टि से भी उससे अधिक सफल रचना ढूँढने पर भी मिलना कठिन है। यदि कहानी-लेखन मे लेखक का उद्देश्य केवल कहानी कहना रहता है तो उपन्यास भी तो दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्तों के विवेचन का माध्यम नहीं है, तब गुरुदेव ने अपने उपन्यास 'गोरा' मे अपने सिद्धान्त का पालन क्यों नही किया। सत्य यह है कि महात्माओं को दूसरों को सुखी और सन्मार्ग पर चलते हुए देखकर सुख होता है, यही कारण है कि इनकी स्वान्तः सुखाय सृष्ट कृतियाँ भी लोक हित का साधन बन सकती हैं। परन्तु स्वान्तःसुख का यह लाइसेन्स यदि सबको दे दिया गया तो अहित की अधिक सम्भावना है। इसलिए उद्देश्ययुक्त साहित्य का सृजन इस दृष्टि से भी श्रेयस्कर समझा जा सकता है कि लेखक का व्यक्तित्व या मानसिक स्तर यदि बहुत ऊँचा नहीं है तब भी वह जो-कुछ लिखेगा उससे जनता के अहित की सम्भावना बहुत कम रहेगी। प्रश्न यह अवश्य उठता है कि क्या समाज की वेदी पर व्यक्ति का बिलकुल बलिदान कर दिया? क्योंकि सामाजिकता जितनी अधिक ग्रहण की जायगी, व्यक्तित्व का उतना ही अधिक त्याग होगा। फिर भी सफल कलाकार वही कहलायगा जो इन दोनो का सामजस्य कर सकेगा, क्योकि ये विरोधी तत्त्व नहीं हैं। व्यक्ति के हित का सामाजिक हित से सघर्ष तभी होगा जब वह स्वार्थ के घेरे के बाहर न निकल सकेगा।

यशपाल जी के इस सग्रह की कहानियाँ समाज की किसी-न-किसी समस्या को लेकर लिखी गई है। समाज को उसके दोषों से परिचित कराना और उनका परिष्कार करना लेखक का उद्देश्य है। कही-कही लेखक ने समाज के उन पहलुओं को हमारे सामने निरावृत किया है जिनके अस्तित्व का यद्यपि हमे ज्ञान है, हम जानते हैं कि वे हमारे समाज को दूषित कर रहे हैं, फिर भी हम उस कटु सत्य को सुनने या देखने का साहस नहीं करते। इन कहानियों में यशपाल जी ने ऐसे बहुत से तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिनके प्रति हम उदासीन हैं। इस प्रकार के दृश्यो का चित्रण करते समय एक यही भय रहता है कि लेखक के वर्णन उनमें इतना रस न लेने लगें कि पाठक के सम्मुख वह चित्रण मुख्य होकर आय और उसका उद्देश्य गौण रूप मे। 'पाँव तले की डाल' इसी प्रकार की कहानी है और यह इस सग्रह की महत्त्वपूर्ण कहानियो में से एक है। जीवन की एकरसता को दूर करने के लिए आजकल बहुत लोगों के मन में कुछ तफरीह करने की बात सूझती है। वकील ब्रजनन्दन दूसरे शहर में एक मुकदमे के सिल-

सिले में जाता है तो अपने एक मित्र नित्तन को तफ़रीह के लिए कोई सम्मानित और सुशिक्षित लड़की लाने को कह देता है। उसका दूसरा मित्र डॉक्टर इस कार्य-क्रम का विरोध करता है, वह कहता है कि जब मेरे घर की लड़की किसी के मनोरंजन का साधन बनकर जाय तो मुझे अच्छा नहीं लगता है, तब मुझे दूसरे की भावनाओं का भी ध्यान रखना चाहिए और उसकी मजबूरी से लाभ न उठाना चाहिए। थोड़ी देर में नित्तन दो लड़कियों को लेकर आ जाता है पर उनमें से एक है ब्रजनन्दन की बहन, जो उसी नगर मे लड़कियों के एक स्कूल में अध्यापिका है और होस्टल में रहती है। उसे देखकर ब्रजनन्दन आपे से बाहर हो जाता है और अपनी पिस्तौल उठाने को झपटता है पर डॉक्टर पिस्तौल उठा लेता है, वह किसी तरह परिस्थिति सँभाल लेता है और ब्रजनन्दन की बहन को जाकर होस्टल भेज आता है। लौटकर वह ब्रजनन्दन को समझाता है—सभी औरतें किसी-न-किसी की बहन, बेटी या स्त्री होती हैं। बहन को भी तुम्हारी तफरीह पर एतराज हो सकता है? भाई होने का मतलब बेशर्मी का अधिकार नही है। तुम जनतन्त्र और समानता की बात करते हो? जनतन्त्र और समता के समाज मे वही नैतिकता और तफरीह चल सकती है जो सबके लिए सम्भव हो । पाँव तले की डाल काटने का मजाक करो तो गिरने पर रोओ मत। इस कहानी को अश्लील कहने वाले बहुत लोग मिल जाएँगे, इसे पढकर निश्चय ही एक झटका-सा लगता भी है, पर इस कटु सत्य के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारी तफरीह की इस कमजोरी पर लेखक ने बड़ा कर्कश आघात किया है। इससे कुछ मिलती-जुलती एक कहानी पहले यशपाल जी ने ८०/१०० लिखी थी। यही तो लेखक का कार्य है कि वह जानते हुए या अनजाने की जाने वाली हमारी भूलों का हमे ज्ञान करवाय। यशपाल की यह कहानी इस दृष्टि से अत्यन्त सफल है।

'चित्र का शीर्षक' यशपाल जी की अत्यन्त सफल तथा कलात्मक कहानी है। चित्रकार जयराज, जो कि सौन्दर्य को आँकने का कार्य करता है, सौन्दर्य को कितना पहचानता है, यही कहानी की समस्या है। नारी का गर्भ से बोझिल रूप किन आँखो को अच्छा लगता है? परन्तु वह ससार के सृजन का एक मात्र आधार है। उसमें शाश्वत सौन्दर्य की झलक देख सकने के लिए आँख चाहिए। कहानी के अन्त में मुख्य पात्री 'नीता' जयराज को वह दृष्टि प्रदान करती है। खाली आँख को जो अच्छा लगे वही तो सुन्दर नही है, सुन्दर वह है जो शिव भी हो। सौंदर्य कहाँ छिपा है इसको पहचानने वाली दृष्टि चाहिए।

'साहू और चोर' इस सग्रह की तीसरी महत्त्वपूर्ण कहानी है, जिसमे लेखक ने यह चित्रित किया है कि समाज ने अच्छे और बुरे के जो लेबल लगा रखे हैं वह कितने सार-हीन हैं। जो जेब काटता है वह बुरा है, चोर है, परन्तु जो अपनी पूँजी की मार से जनता का पेट काटता है वह साहू है। एक देश अपनी सेना या पूँजी से दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति सब-कुछ अपहरण कर लेता है, क्या उसका कार्य एक बड़े परिमाण में डाकेजनी नहीं है। कहानी में लेखक ने केवल हमारे इन लेबलों की असारता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। समाज की वह व्यवस्था—जिसके कारण व्यक्ति अपने भविष्य के विषय में इतना चिन्तित है कि वह आज अधिक-से-अधिक अर्जन कर लेना चाहता है, कल पता नहीं उसे इसकी सुविधा प्राप्त हो या न हो—भी आलोचना की पात्री है। यदि उस सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो जाय जिसमें

सबको समान अवसर तथा सुविधाएँ प्राप्त हो सकें, कम-से-कम उनकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तो गलत साधनों का प्रयोग बहुत-कुछ कम हो जायगा।

'इसी सुराज के लिये ?' यशपाल जी की इस संग्रह की राजनीतिक कहानियों में से एक है। उन्हे शिकायत है— स्वराज्य हो गया, सुराज नही आया। शासन अंग्रेजों के हाथ से भारत-वासियों के हाथ में आ गया, पर गरीबो की दशा जैसी-की-तैसी है। लेखक की बात इस दृष्टि से तो ठीक है कि—'जग की तंगी के जमाने मे भी रुपये का चार सेर आटा खाते रहे अब सवा दो सेर का खाते हैं', पर देखना यह चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की दशा क्या है ? उसकी बाग-डोर किसके हाथ में है ? हमारे देश की शासन-व्यवस्था इस मँहगाई के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी है ? प्रश्न फिर सामाजिक व्यवस्था का भी हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। उसका परिवर्तन क्या एक दिन की बात है ? तब फिर कांग्रेसी सरकार पर दोषारोपण करके हट जाने से क्या हमारा उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है ? जिस सामाजिक व्यवस्था के कारण सबको समान सुविधाएँ नहीं प्राप्त होती उसको परिवर्तित करने का लेखक क्या साधन सुझाता है ? यदि यह वह नही करता तो बात अधूरी रह जाती है।

इस सग्रह में कई कहानियाँ ऐसी हैं जो कहानी की परिभाषा की दृष्टि से कहानी न कही जायँगी। कथा-वस्तु कुछ में नही के बराबर है, कुछ में है, तो अत्यन्त क्षीण। उन्हे मनोरजक निबन्ध कहा जा सकता है। 'प्रधान मन्त्री से भेंट', 'अनुभव की पुस्तक', 'फूल की चोरी', 'स्थायी नशा' ऐसी ही रचनाएँ हैं। यह ठीक है कि अत्यन्त साधारण घटना को लेकर उसे अपने विचारों को प्रकट करने का सफल माध्यम बनाने की शक्ति यशपाल में है। 'शहनशाह का न्याय' बड़ी साधारण कहानी है। 'एक सिगरेट' में यशपाल ने वही समस्या ली है जो 'मगला' नामक उनकी कहानी में भी थी। यों एक समस्या पर अनेक कहानियाँ लिखना गुनाह नही है, परन्तु इस कहानी-सग्रह को पढते समय कई बार मुझे यशपाल जी की कुछ पिछली कहानियो की याद आई। इसे निश्चय ही मैं कुछ बहुत अच्छी बात नहीं मानता। 'हाय राम ! ये बच्चे !!!' कहानी भी मुझे अच्छी लगी। अपने कार्यों तथा व्यवहार के द्वारा हम किस प्रकार अपने बच्चो के जीवन मे विष घोलते रहते है, यही इस कहानी की समस्या है। 'आदमी या पैसा' और 'मार का मोल' एक ही चित्र के दो पहलू कहे जा सकते है, जिन्हें लेखक ने सफलता पूर्वक चित्रित किया है।

सब प्रकार से विचार करने पर कहानी-सग्रह मुझे मनोरजक तथा सग्रहणीय प्रतीत हुआ। वर्तमान समस्याओ पर इधर यशपाल जी ने बडी सफल कहानियाँ हिन्दी को दी है, परन्तु कभी-कभी मुझे ऐसा लगा कि यदि उन्हे इतना न लिखना पड़े तो वे कदाचित् अधिक स्थायी तथा शाश्वत रचनाओ की सृष्टि कर सके।[1]

●

---

१. 'चित्र का शीर्षक', लेखक—यशपाल, प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ।

डा० उदयनारायण तिवारी

हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-भावना का विकास

प्रेम का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है और यह विभिन्न परिस्थितियों में, विविध रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। इसके लिए देश-काल की सीमा कभी भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकी है। यह अवश्य है कि सरिता-प्रवाह की भाँति इसकी अबाध गति में कहीं-कहीं मोड और झुकाव तथा उग्र एव मन्थर गति का हमें दर्शन मिलता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अपने मूल स्रोत से अग्रसर होकर निरन्तर विकास और विस्तार पाता गया है। व्यक्तिगत प्रेम क्रमशः विश्व-प्रेम में परिणत होता जा रहा है। आज के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में लक्षित होने वाला तुमुल नाद और सघर्ष भी उसी भावना की एक कड़ी है। परन्तु प्रेम का जो रूप हमें कला और साहित्य मे उपलब्ध होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसके प्रमाण हमें हिन्दी-साहित्य की उस लम्बी परम्परा में भी सुलभ हैं जो कई शताब्दियो से हमारी राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करती आई है।

हर्ष की बात है कि 'हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह' का अध्ययन उपस्थित करने का श्रेय श्री परशुराम चतुर्वेदी जैसे अध्ययनशील श्रेष्ठ आलोचक को मिला। इस विषय से सम्बन्धित चतुर्वेदी जी की एक अन्य पुस्तक 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' भी है जिसका विवेच्य विषय स्वभावतया प्रेम-लक्षणा भक्ति है।

'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह' में प्रस्तावना के बाद 'प्रेम परिचय' से पुस्तक का आरम्भ होता है। इसमें चतुर्वेदी जी ने प्रेम-भावना का तात्त्विक विवेचन उपस्थित किया है। अनेक मतों एव विचारों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने जहाँ पुराने विचारो की समीक्षा उपस्थित की है वहाँ आधुनिक विचारो की विवेचना भी की है। चतुर्वेदी जी के व्यापक दृष्टिकोण और गहरे अध्ययन ने किसी भी पक्ष को अछूता नही रहने दिया है। अन्त मे आपने दाम्पत्य-प्रेम को ही चरम विकास ठहराया है। यही नही कि आपने प्रेम के विविध रूपो का दर्शन-मात्र करा दिया हो। वस्तुतः जब कभी अवसर आया है वहाँ आप अपना निष्कर्ष भी देते गए हैं। उन परिस्थितिजन्य कारणों का भी उल्लेख करना आप नहीं भूले हैं जिनके अनुसार हमे इस प्रवाह में चढ़ाव-उतार लक्षित होता है। वीरगाथाओ की प्रणय-लीला लोक-जीवन से दूर जा पड़ती है और प्रेम सिमटकर आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। भक्ति-काव्य की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। प्रेम का स्तर यहाँ व्यक्तिगत न होकर विश्वात्मा के प्रति होता है जिसकी अभिव्यक्ति कई रूपों में सामने आती है। चतुर्वेदी जी को दास्य भावना प्रिय नही लगी है। रीति-काव्य की समीक्षा करते हुए चतुर्वेदी जी उस युग के स्वच्छन्द कवियों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। आप हिन्दी-काव्य में परकीया भाव का प्रेरणा-स्रोत इस्लामी प्रभाव को बतलाते हैं। दक्खिनी हिन्दी कविता की चर्चा करते हुए चतुर्वेदी जी ने एक मार्के की बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है, वह यह कि उस समय वहाँ भी माशूक को पुल्लिंग लिखने की प्रथा न थी।

आधुनिक युग के साथ ही हिन्दी-काव्य में एक विशेष उल्लेख्य मोड़ आता है और अब प्रेम-भावना का क्षेत्र व्यक्ति से हटकर देश-प्रेम की ओर अग्रसर होता है। इस प्रसंग में चतुर्वेदी

जी की आलोचनात्मक दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है और आपने बड़ी बारीकी से तत्कालीन प्रवृत्तियों की वैज्ञानिक विवेचना उपस्थित की है। अन्त में मानवता-प्रेम से ओत-प्रोत वर्तमान कविताओं का स्वागत करते हुए आपने प्रेम की व्यापक परिणति पर उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की है। भाव-पक्ष के साथ-साथ चतुर्वेदी जी ने कला-पक्ष को भी अपने ध्यान में रखा है और उसका मूल्यांकन उपस्थित किया है।

परशुराम जी की दूसरी पुस्तक 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' वास्तव में एक निबन्ध-संग्रह है जिसका नामकरण पुस्तक के अन्तिम निबन्ध पर हुआ है। इसमें संग्रहीत अन्य निबन्धों का भी सम्बन्ध मूल विषय से है, अतएव विषय की एकरूपता एवं एकरसता आद्योपान्त बनी रहती है। इस पुस्तक के माध्यम से चतुर्वेदी जी ने हिन्दी-पाठकों को नई सामग्री प्रदान करके उनके ज्ञान-वर्द्धन में जो योग दिया है उसके लिए हिन्दी-संसार उनका उपकृत रहेगा। उदाहरणार्थ 'तमिल प्रान्त के आलवार भक्त कवि', 'वैष्णवों का सहजिया सम्प्रदाय' और 'बाउलों की प्रेम-साधना' शीर्षक निबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें अब तक की उपलब्ध सामग्रियों का पूरापूर उपयोग किया गया है। प्रेम-साधना के अन्य कवियों में से 'मीराँबाई की प्रेम-साधना', 'मीराँबाई की भक्ति का रूप', 'जायसी और प्रेम-तत्त्व', 'हित हरिवंश के हितचौरासी पद', 'नन्ददास की रूप मंजरी', 'प्रेमी भक्त रसखान' पर अलग-अलग विस्तार पूर्वक लिखा गया है जिससे ज्ञातव्य बातों का सम्यक् परिचय हमें मिल जाता है। निबन्ध-संग्रह होने के नाते हमें इससे प्रेम-साधना का क्रमबद्ध अध्ययन नहीं प्राप्त होता किन्तु अन्तिम निबन्ध 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' से हमें तत्कालीन विविध प्रवृत्तियों की एक झाँकी अवश्य मिल जाती है। इस कठिन कार्य के लिए जिस योग्यता और क्षमता की अपेक्षा है वह लेखक में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर तृप्ति से अधिक जिज्ञासा और प्रेरणा की भावना ही अधिक जाग्रत होती है।[1]

डा० दशरथ शर्मा

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

अब तक हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कई केवल 'कवि-वृत्त-संग्रह' हैं, कई केवल पिष्ट-पेषण। केवल आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अपनी विशेषता रखता है। उसकी आलोचनाएँ मार्मिक हैं। कवि के हृदय तक पहुँचने का उन्होंने अनेकशः सफल प्रयत्न किया है। किन्तु शुक्ल जी जितने अच्छे समालोचक थे, शायद उतने अच्छे हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार नहीं। कम-से-कम हिन्दी-साहित्य के आदिकाल से सम्बन्ध रखने वाली उनकी अनेक स्थापनाएँ तो अब निर्मूलक सिद्ध होने लगी हैं। इसके लिए दो कारण हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए कुछ सामग्री का उस समय अभाव था जब शुक्ल जी ने अपना कार्य आरम्भ किया। कुछ सामग्री को उन्होंने स्वयं छोड़ दिया। जैन-धर्म-सम्बन्धी वाङ्मय को वे साहित्य का अंग ही नहीं मानते थे। द्विवेदी जी ने अपने ग्रन्थ, 'हिन्दी-

१. हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह, लेखक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग। मध्यकालीन प्रेम-साधना, लेखक—वही, प्रकाशक—साहित्यभवन लिमिटेड प्रयाग

साहित्य का आदिकाल' में अब तक प्राप्त प्रायः सब सामग्री का उपयोग किया है। उनकी दृष्टि व्यापक है। संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, और प्राचीन गुजराती में प्रकाशित और अप्रकाशित सब ग्रन्थ एक बार आपकी दृष्टि से गुजर चुके हैं, धार्मिक और लौकिक के व्यर्थ के भेद को दूर करके द्विवेदी जी ने समस्त उपलब्ध प्राचीन साहित्य सामग्री का आलोचन किया है। इस पुस्तक में बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा संयोजित और पुरस्कृत भाषण-माला का आलकन प्रस्तुत किया गया है।

द्विवेदी जी ने पहले व्याख्यान मे उन अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो हिन्दी-साहित्य के प्राचीन काव्य-रूपों के अनुमान में सहायक हैं। हम द्विवेदी जी की उन सब युक्तियों से सहमत हैं जिनके आधार पर चौदहवीं शताब्दी तक के हिन्दी के आदि-काल के लिए उन्होने अपभ्रंश-काल नाम ठीक समझा है। जिस समय साहित्य के प्रत्येक अग पर अपभ्रंश मे प्रचुर मात्रा में रचना हुई हो उसके लिए राहुल जी का दिया हुआ 'सिद्ध सामन्त-काल' नाम ठीक नहीं जँचता। शुक्ल जी द्वारा प्रदत्त 'वीरगाथा काल' नाम तो स्पष्टतः अनुपयुक्त ही है। शुक्ल जी ने जिन वीरगाथाओं का विवेचन किया है, उनमें से 'खुम्माण रासो' १८वीं शती की और 'बीसलदेव रासो' सम्भवतः १७वी शती की कृति हैं। 'जयचन्द प्रकाश' और 'जयमयकजस चन्द्रिका' नोटिस-मात्र हैं। 'प्राकृतपैङ्गलम्' मे कुछ हम्मीर-विषयक श्लोक हैं। राहुल जी ने इन्हे जज्जल कवि-लिखित माना है। द्विवेदी जी शायद हम्मीर को गजनी का 'अमीर' मानने के पक्ष में हैं। किन्तु वास्तव में यह हम्मीर रण थम्भोर का हठी हमीर है। जजल हम्मीर का सेनापति और उत्तराधिकारी था।[1] यह सम्भव है कि तात्कालिक कवियों ने हम्मीर-विषयक कोई काव्य लिखा हो। किन्तु ऐसी रचना हमें अब तक नही मिली है, और जिस तथा-कथित वीरगाथा का शुक्ल जी ने उपयोग किया है वह तो केवल नोटिस-मात्र है।

साथ ही यह ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि इस आदिकाल में वीरगाथाएँ ही नही लिखी गईं। सिद्धों की रचनाएँ भी इस समय की हैं। 'सन्देश रासक' शृङ्गार-रस-प्रधान रचना है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त, धनपाल जैसे कवियों ने अपने धर्मानुप्राणित काव्यों द्वारा इसी समय हमारे साहित्य की श्री वृद्धि की है। अनेक पुराने धार्मिक रासों की भी इसी समय रचना हुई। अतः द्विवेदी जी का यह कहना सर्वथा उचित है कि इस आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' कहना ठीक है।

व्याख्यान के अन्तिम भाग मे द्विवेदी जी ने भाषा की एक नवीन प्रवृत्ति का भी निर्देश किया है। चौदहवी शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य मे तद्भव शब्दों का प्राधान्य था। इस बीच में धीरे-धीरे तत्सम शब्द प्रयुक्त होने लगे, 'युक्ति-व्यक्ति प्रकरण', 'वर्ण रत्नाकर' 'कीर्ति-लता', 'कुवलय माला' आदि ग्रन्थों से और दमोह के शिला-लेख के उद्धरण से द्विवेदी जी ने यह बात अच्छी तरह सिद्ध की है।

दूसरे व्याख्यान में सबसे पहले द्विवेदी जी ने उन कारणों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिनकी वजह से चौदहवीं शताब्दी में अवधी और ब्रजभाषा के क्षेत्रों में कोई पुस्तक मूल रूप में प्राप्त नहीं होती। पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं, (१) राज्याश्रय पाकर (२) धर्म-सम्प्र-

१. जज्जल की जीवनी के लिए 'इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली' १९४१ में लेखक का लेख देखें।

दाय का आश्रय पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। तीसरे प्रकार की पुस्तकें अधिकतर मूल रूप में नहीं रहती। राज्याश्रय पाकर बहुत-सी पुस्तकें बच जातीं; किन्तु द्विवेदी जी के विचार से यह राज्याश्रय मध्यदेश के देशी साहित्य को प्राप्त न था। गाहड़वाल बाहर से आए थे। वे देशी जनता से बहुत समय तक एक न हो पाए। लोगों में प्रतिष्ठा-प्राप्ति की इच्छा से भी उन्होंने केवल संस्कृत को प्रश्रय दिया। इस राज-वंश के अन्तिम दिनों में देशी भाषा को कुछ आश्रय मिला। विद्याधर-जैसे मन्त्रि-कवियों ने उनके दरबार को सुशोभित किया, किन्तु दुर्भाग्यवश उन्हीं दिनों भारत पर मुसलमानी आक्रमण हुआ और भारत अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा।

उधर अजमेर के चौहान उसी देश के रहने वाले थे। इसलिए वे देशी भाषा की उपेक्षा न करते थे। जैन प्रबन्धों से बीसलदेव के समय की देशी भाषा की रचनाओं का कुछ परिचय भी मिल जाता है। ऐसे ही राजा की राजधानी अजमेर में चन्दवरदाई-जैसे कवि का होना उचित ही है। इसी प्रकार चन्देल राजा परमर्दिन के दरबार में भाषा-काव्य का मान था। मालवा के परमार वैदिक धर्मानुयायी थे, किन्तु उन्होंने देशी भाषा का मान किया। गुजरात में राजाओं के आश्रय के कारण अपभ्रंश और देश्य-भाषा खूब फली-फूली। मान्यखेट में भी अप-भ्रंश का मान हुआ। इन पालवंशी राजाओं की कृपा से बौद्ध सिद्धों ने देशी भाषा में अपने गान लिखे। इसकी प्रतिक्रिया विदेशागत सेन राजाओं के समय में हुई।

मध्य देश में देश्य-भाषा के तिरस्कृत होने का कारण शैव-मत का प्राबल्य भी है। शैव-साधकों का देशभाषा के प्रति अनुराग न था, और न संसार को घृणा से देखने वाले ऐसे व्यक्तियों से लोक-मनोहर-साहित्य-सृष्टि की आशा ही की जा सकती है।

मध्य देश में चौदहवीं शताब्दी तक देश्य-साहित्य के अभाव के विषय में उपर्युक्त ऊहापोह शायद ठीक हो; किन्तु जिन भित्तियों पर ये आश्रित हैं, वे कुछ कमजोर हैं। हमारे पास अब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकें कि गाहड़वाल आरम्भ से मध्यदेशीय न थे। कन्नौज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। "गौड़वहो" की यहीं रचना हुई। राजशेखर ने अपना 'कर्पूर मंजरी सट्टक' यहाँ लिखा। उसकी निश्चित सम्मति थी कि मध्यदेशीय कवि सब भाषाओं का ज्ञान रखते हैं। उसके समय में, अर्थात् गाहड़वालों के अभ्युदय से बहुत पूर्व भी अपभ्रंश का मुख्य क्षेत्र मारवाड़, टक्का और भादानक देश था। गौड़ विदेशागत सेनों से पहले ही संस्कृत के प्रेमी थे।

कन्नौज वाले गाहड़वालों के समय में भी अनेक भाषाओं में रचना करते रहे। जयचन्द्र के मन्त्री विद्याधर की देश्य कृतियाँ हमें प्राप्त हैं। गोविन्दचन्द्र का सभा-पण्डित दामोदर भट्ट देश्यभाषा का विद्वान् था। यदि संस्कृत-संस्कृति के प्रबल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देश्यभाषा को इतना मान दिया तो हम किस आधार पर कह सकते हैं कि उसके एक-दो पूर्वजों ने ही देशी-भाषा से विरोध किया था, और उन्होंने विरोध किया भी हो तो तीस-चालीस वर्ष में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नहीं होता। मध्य देश में इस साहित्य के अभाव के अन्य कारण हो सकते हैं। जब तक हमें कुछ अधिक सामग्री न प्राप्त हो तब तक द्विवेदी जी के शब्दों में यही कहना ठीक होगा कि "केवल संयोगवश इधर-उधर से लब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव, और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न बहुत उचित है, और न बहुत हितकर।"

एक-दो और बातों पर हमारा द्विवेदी जी से कुछ मतभेद है। केवल 'पृथ्वीराज-रासो' या सिण्ढायच दयालदास[1] के कथन के आधार पर किसी ग्रन्थ या लेखक का अस्तित्व स्वीकार करना हमें ठीक नहीं जँचता। दयालदास ने विक्रम की बीसवीं शताब्दी में अपनी पुस्तकें लिखीं। रासो की ऐतिहासिकता और अप्रामाणिकता के बारे में स्वयं द्विवेदी जी ने बहुत-कुछ लिखा है। बीसलदेव चौहान के समय जगडू साहु को रखना भी अशुद्ध है। वास्तव में यह बीसल गुजरात का बाघेल राजा बीसलदेव है।

शैव और विशेषत. तान्त्रिक सिद्धान्त के लुप्त होने का कारण सम्भवतः द्विवेदी जी ने ठीक दिया है। समाज में इनके प्रति अश्रद्धा थी। जिन ग्रन्थों को न राज्याश्रय प्राप्त हो और न जनता ही उनका सम्मान करे, वे प्रायः लुप्त हुआ ही करते हैं।

इस व्याख्यान के अन्त में उन प्रवृत्तियों का समीक्षण है जो आगे आने वाली भाषा के प्रधान लक्षण माने जाते हैं।

तृतीय व्याख्यान में द्विवेदी जी ने 'पृथ्वीराज रासो' की चर्चा की है। आपने 'रासो' के चार रूपों का उल्लेख किया है। अभी मेरे सम्मान्य मित्र श्री अगरचन्द्र नाहटा को एक और रूपान्तर मिला है, जो इन चारों से संक्षिप्त है। प्रसंगवश द्विवेदी जी ने कथा और आख्यायिका के भेद, प्राकृत में पद्यबद्ध कथा की सम्भावना और प्राचीन काल से चली आती संस्कृत तथा प्राकृत में श्रोता और वक्ता रखने की परम्परा का भी निर्देश किया है। 'रासो' में इस परम्परा का पालन हुआ है। द्विवेदी जी का तो यहाँ तक ख्याल है कि शायद "इस मामूली से इंगित को पकड़कर हम रासो के मूल रूप का कुछ अन्दाजा लगा सकें।" इन नये सुझाव के आधार पर आपने इञ्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाहों को 'रासो' का मूल भाग समझा है। इन तीनों में शुक ने शुकी से प्रश्न किया है। शुक 'रासो' की कथा का वक्ता और शुकी सुनने वाली है। द्विवेदी जी का यह नया सुझाव मौलिक ही नहीं, विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है। भाषा, छन्द, कथानक, कथा-संगति आदि के साथ-साथ इसका समुचित प्रयोग अवश्य लाभदायी होगा।

'पृथ्वीराज रासो' के विषय और स्वरूप का भी द्विवेदी जी ने उसे 'रसमय सालंकार युद्ध-कथा' कहकर बहुत अच्छा वर्णन किया है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आस-पास 'रासो' का अर्थ विकसित होता हुआ यहाँ तक पहुँच चुका था। 'नायक की प्रेम-लीला, कन्या-हरण और शत्रु-पराजय-ऐसे रासों के मुख्य विषय थे।

चतुर्थ व्याख्यान में द्विवेदी जी ने 'ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध भारतीय काव्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है'। आपकी राय है कि ऐतिहासिक काव्य उन उपादानों में से एक है जो भारतीय साहित्य में सातवीं शताब्दी के आस-पास आए हैं। शायद यह बात किसी अंश में ठीक हो, किन्तु इससे प्राचीन अनेक राज-प्रशस्तियों को देखते हुए यह प्रवृत्ति सर्वथा नवीन तो प्रतीत नहीं होती। ईसा के जन्म से पूर्व भी यह भारतीय वाङ्मय में वर्तमान थी। सातवीं-आठवीं शताब्दी के आस-पास यह कुछ विशेष विकसित हुई।

भारतीय साहित्य में अनेक ऐतिहासिक काव्य वर्तमान हैं, या यह कहना अधिक ठीक

---

1. सिण्ढायच दयालदास की प्रामाणिकता के विषय में 'शार्दूल प्राच्य पुस्तकमाला' में प्रकाशित 'दयालदास री ख्यात' की प्रस्तावना देखें।

होगा कि भारत में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर अनेक काव्य हैं। जैसा श्री द्विवेदी जी ने बताया है इनमें 'कल्पना विलास का अधिक मान था, तथ्यावली का कम।' इनमें 'फैक्ट्स और फिक्शन' का विचित्र सम्मिश्रण है। कल्पना-प्रधान काव्य के प्रेमी होने के कारण भारतीय कवि ने अनेक रूढ़ियों द्वारा इतिहास को भी निजधरी कथा की ऊँचाई तक ले जाने का प्रयत्न किया है, ऐसी इक्कीस रूढ़ियों की तालिका द्विवेदी जी ने हमारे सम्मुख रखी है। इन्ही रूढियों का 'पृथ्वीराज-रासो' मे भी पालन हुआ है। कहानी कहने वाला सुग्गा है। इस वार्तालाप के रूप में प्रथम विवाह इञ्छिनी का है, दूसरा शशिव्रता का, और तीसरा सयोगिता का। शशिव्रता के विवाह में कवि ने अनेक कथानक-रूढियों का आश्रय लिया है। सयोगिता के विवाह को द्विवेदी जी ने विशुद्ध कवि-कल्पना माना है। कुछ वर्ष हुए 'राजस्थान-भारती' के पृष्ठो मे प्रस्तुत लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि सयोगिता के अस्तित्व का निराकरण स्वर्गीय गुरुवर श्री ओझा जी की युक्तियों से नही किया जा सकता। जिस मनोयोग से कवि ने इसका वर्णन किया है और जिस आनन्द से 'सुर्जनचरित' के रचयिता चन्द्रशेखर ने भी इस कथा को दिया है, उनसे एकदम यह विश्वास नही होता कि सयोगिता नाम की राजकुमारी कभी थी ही नही।[१] किन्तु इतिहास की दृष्टि से हम चाहे उनसे सहमत हो या असहमत, हम द्विवेदी जी के, इस कथा के विश्लेषण की प्रशसा किये बिना नही रह सकते।

ऋतु-वर्णन मे कवि ने केवल एक पुरानी प्रथा को अपनाया है इस बात को सिद्ध करते हुए द्विवेदी जी ने रासो के ऋतु-वर्णन का आनन्द पाठको को दिया है। इञ्छिनी के बहुत रोकने पर भी पृथ्वीराज कन्नौज के लिए प्रस्थान करते है। कवि ने जिस वैशिष्ट्य से कान्यकुब्ज की राजकुमारी सयोगिता और पृथ्वीराज के प्रेम की कथा का आयोजन किया है, प्रायः उतने ही वैशिष्ट्य से द्विवेदी जी ने उसके सौन्दर्य और घुमाव-फिराव को समझाया है। इस प्रेम-कथा की कुछ घटनाएँ तो काफ़ी जन-प्रसिद्ध रही होंगी। उनका वर्णन हमें कवि चन्द्रशेखर के 'सुर्जन चरित' मे भी मिलता है। द्विवेदी जी की तरह हमारा भी विश्वास है कि शुरू मे इस कथानक में इतना रग न पुता होगा। युद्ध के प्रसग में परवर्ती कवियों ने काफी वृद्धि की है। सयोगिता-स्वयवर किसी समय रासो का प्रधान अग था, यद्यपि अनेक प्रक्षेपों से अब वह कुछ विकृत हो गया है। इसी प्रसग से सम्भवतः मूल 'रासो' की समाप्ति थी।

रासो-विषयक द्विवेदी जी के उपसहार को सम्भवतः सभी स्वीकार करेंगे। "सभी ऐतिहासिक मानी जाने वाली रचनाओं के समान इसमें भी काव्यगत और कथानकगत रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। इसमे भी रस-सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, सम्भावनाओं पर अधिक जोर दिया गया है, और कल्पना को महत्त्वपूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है।"

पञ्चम व्याख्यान में द्विवेदी जी ने हिन्दी के आदिकाल के छन्दो और काव्य-रूपों पर विचार किया है। श्लोक सस्कृत का, तो गाथा प्राकृत का प्रतीक था। ईस्वी के आरम्भ में गाथा ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। लौकिक-रस-प्रधान कविता इसमें सजीव हो उठी है।

'दोहा' इसी प्रकार अपभ्रश के आगमन का सूचक है। पाँचवी-छठी शताब्दी में अपभ्रश-साहित्य काफी मात्रा में वर्तमान था। सम्भव है इसका कुछ सम्बन्ध आभीर जाति से रहा हो।

---

१. इस विषय पर अधिक विचार और विमर्श के लिए 'राजस्थान-भारती' में प्रकाशित 'संयोगिता' पर लेख देखें।

दोहा हस्वान्त छन्द है। तुक का मिलान अपभ्रंश की विशेषता है। दोहे में पहली बार तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया। विशेषतः मुक्तक काव्य के लिए यह छन्द बहुत उपयुक्त है।

अपभ्रंश के काव्य अनेक सन्धियों (सर्गों) में विभक्त हैं। एक सन्धि में अनेक कड़क होते हैं। पद्धटिका, अरिल्ल आदि कुछ छन्द लिखकर अन्त में घत्ता या अन्य किसी ऐसे छन्द द्वारा इसका विच्छेद किया जाता है। चौपाई और दोहों द्वारा कड़वकों की रचना सिद्ध-साहित्य की देन है। आरम्भ में चौपाई कथानक छन्द था। अनेक दोहों को लिखकर चौपाई द्वारा कथा की योजना ढोला-मारू के दोहों में मिलती है।

धीरे-धीरे अपभ्रंश में अनेक बड़े-बड़े छन्दों का उपयोग होने लगा चन्दबरदाई छप्पय के प्रयोग में सिद्धहस्त है। दूहा, पद्धरी, तोमर, नाराच आदि का भी उसने सुन्दर प्रयोग किया है। छन्दों की दृष्टि से द्विवेदीजी का यह अनुमान सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि 'चन्द हिन्दी-परम्परा के आदि कवि की अपेक्षा अपभ्रंश के अन्तिम कवि थे।' चन्द ने 'साटक' या शार्दूल-विक्रीडित और गाहा (गाथा) छन्दों में भी कुछ रचना की है। वे संस्कृत को साटक और प्राकृत को गाहा छन्द में लिखते। द्विवेदी जी का यह सुझाव भी मौलिक है कि अपभ्रंश काल में "साटक" या "सट्टक" शब्द के खेल या क्रीडा के अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण लोगों ने शार्दूल विक्रीडित को शार्दूल साटक कहना शुरू कर दिया।

व्याख्यान के अन्त में गोस्वामी तुलसीदास जी और कबीर ने जिन काव्य-रूपों का प्रयोग किया है उनके आधार पर पुराने हिन्दी के काव्य-रूपों का अनुमान करने में द्विवेदी जी ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है।

हमें आशा है कि हिन्दी-साहित्य के सम इतिहास को इसी पैमाने पर लिखकर द्विवेदी जी हिन्दी-वाङ्मय की कमी को पूरा करेंगे।[1]

---

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल; लेखक आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना।

परिचय

बान्धवी

इस सग्रह की कविताओं को वस्तु की दृष्टि से चार प्रकार के वर्गों मे बाँटा जा सकता है। कुछ कविताएँ रहस्यवादी है, कुछ विशुद्ध वर्णनात्मक, कई कविताएँ बापू के निधन पर हैं और कई ग्राम-सम्बन्धी। पर सभी कविताएँ गेय हैं। वैसे सगीत का प्राचुर्य तथा वैविध्य चाहे न हो, पर जहाँ तक कवित्व का प्रश्न है, वह कई कविताओं में यथेष्ट मात्रा में है।

रहस्यवादी गीत विशिष्टाद्वैत के ऐसे परि-पोषक हो गए हैं कि कवि ने अपने को जीव की स्थिति में रखकर स्त्रीलिंग तक बना लिया है। वर्णनात्मक कविताएँ प्रवाह रखती हैं, पर गठी हुई नहीं है, उनमे शिथिलता है। उन कविताओं को गेय बनाने का मोह अखर जाता है, जैसे 'पावस रानी, वसन्त आदि। ऐसे कुछ कविताएँ वस्तु के अभाव में उथली भी पड गई हैं। बापू के निधन पर लिखी गई कविताएँ प्राय. प्रलाप-मात्र हैं या उनकी प्रशस्ति बन गई हैं। इस प्रकार की सबसे अच्छी कविता 'अभागिन सध्या' बन पड़ी है। ग्रामीण वातावरण की कविताएँ प्रायः यथार्थ से परे हैं। कवि के मस्तिष्क में गाँव का अर्थ-जर्जर, रूढ जीवन नही है। उसका किसान ऐसा है जो कार्य करते हुए ज्वार-बाजरे की स्वर्ण-बालियो से धरती को सजाकर रधिया-राधा से प्रेम करना नहीं भूलता।' (भूमिका पृ० ५) पर कविताओं को पढकर ऐसा लगता है जैसे उसका किसान प्रेमी अधिक है, कर्म और उसकी रूक्षता से उसका लगाव नही। बात यह है कि दूसरे सत्य को कवि भावनाओं द्वारा ग्रहण नहीं कर पाया।

कविताओ से प्रकट होता है कि कवि को समाज और यथार्थ स्वीकार नहीं है, हालाँकि कवि ने भूमिका में सफाई देने की कोशिश की है। १९५३ का पाठक कवि से अधिक व्यापक चेतना, शैली की नवीनता तथा भावाधिक्य की आशा करता है। देश के दु.ख दारिद्रय और गाँवों की विपन्नता को 'निठुर नियति' से जोड़ते हुए कवि एक बार सोच लेता तो अच्छा था।[1]

---

[1] कविता-संग्रह, लेखक—श्री देवनाथ पाण्डेय 'रसाल', प्रकाशक—रामयश पांडेय, रसाल-कुञ्ज, बनारस।

सवेरा और साया

'अरुण' 'विभाषी' (पजाबी) हैं, इसलिए हिन्दी में लिखने का श्रेय तो उनका है ही, और फिर जब अभिव्यजना पर कुछ अशों में अधिकार हो तो श्रेय कुछ और बढ जाता है। संग्रह की कविताओं में प्रायः गेय हैं, कुछ मुक्त छन्द में हैं। इन कविताओं की भावभूमि तो उसके समर्पण से ही स्पष्ट है, 'युग की अन्तर्दाही पीड़ा और चेतना को', पर अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिनमें सिद्धान्तों की ताकिकता तथा विचारों की शुष्कता है। तार्किकता और बौद्धिकता अपने में या कविता में अमान्य नही हैं, पर जब वे भावना-प्रधान आत्मा लेकर आयें तभी। कवित्व के दर्शन भी वही होते हैं। इन कविताओं में उसी कवित्व की कमी है। जहाँ तक कवि के प्रगतिशील दृष्टिकोण का सम्बन्ध है कविता को जन-जीवन से मिलाने, कुण्ठा, निराशा आदि से मुक्त करने का सम्बन्ध है, किसी का मतभेद नहीं हो सकता। सग्रह में 'ओ नीव के पत्थर', 'सिपाही', 'सस्ती का स्वप्न', 'सिगरेट का धुँआ', अच्छी रचनाएँ हैं। भाषा में साधारण शक्ति है, प्रवाह भी कम है।[1]

झपकियाँ

'झपकियाँ' का यह दूसरा सस्करण है पहला '४५ मे निकला था। नई सजधज है, दो-एक कहानियाँ भी जोड़ दी गई हैं। इन कहानियों में दो-एक में समस्या है, कुछ का केन्द्र-बिन्दु कोई सवेदना है और कुछ केवल कौतूहल पर आधारित है। इनमे कार्य की ही प्रधानता है, कहानी के अन्य अग चरित्र-चित्रण, वस्तु-विन्यास, मनोवैज्ञानिक गहराइयाँ तथा मोड़ और वातावरण-निर्माण सब दब गए हो है। इस प्रकार उनका कला-पक्ष अत्यन्त निर्बल है। क्या विचार और क्या वस्तु, सभी दृष्टियों से यह लेखक की अपरिपक्व कृति है। ये लेखक की प्रारम्भिक कहानियाँ हैं, और टेकनीक, भाषा तथा व्यजना सभी ओर लेखक इस सग्रह में सीखता-सा जान पड़ता है। वास्तव में इसमे 'शरद्' की आगे की रचनाओं का अकुरित रूप है जो 'लका महराजिन' तथा 'आँचल का आसरा' आदि में विकास को प्राप्त हुआ है। पुस्तक की छपाई अच्छी है, कवर आकर्षक है।[2]

---

१. कविता-सग्रह, लेखक—श्री विद्याभास्कर 'अरुण', प्रकाशक—इंडियन प्रेस, प्रयाग।

२. झपकियाँ—कहानी-संग्रह लेखक—श्री ओंकार शरद्, प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा।

चरित-नायक

यह उपन्यास एम० लरमनतोव के 'ए हीरो ऑव आवर टाइम' का हिन्दी-अनुवाद है—अनुवाद मे प्रमुखतः दो बातों पर विचार किया जा सकता है—भाषा और वस्तु। अनुवादक का कार्य बड़े दायित्व का है। उसे दोनों भाषाओं का समान अधिकारी तो होना ही चाहिए, साथ ही मौलिक कृति की आत्मा तक पहुँचने की प्रतिभा भी उसमें अपेक्षित है।

जहाँ तक लरमनतोव के उपन्यास के प्रश्न हैं, यहाँ अधिक कहने की गुन्जाइश नही है, उसके लिए ये शब्द ही पर्याप्त हैं—"अपने चरित-नायक के रूप मे महान् लेखक ने जिस व्यक्ति का चित्रण किया है वह पाठको का प्यार और साथ ही घृणा भी पाने का अधिकारी है जो व्यक्ति इस कृति में दिखाई पड़ेगा वह वास्तव मे एक चित्र है जिसके माध्यम से लेखक ने कई पीढ़ियो की बुराइयो का चित्रण किया है।"

पर जहाँ तक अनुवाद का प्रश्न है, यह अत्यन्त असफल बन पडा है। भाषा की शिथिलता, अस्पष्टता तथा अशुद्ध प्रयोग पुस्तक-भर में हैं। उदाहरण के लिए कोई पृष्ठ खोला जा सकता है, जैसे—"मैंने भेड़ो की कीमित उसके बगल मे रख दिया पर उसने उसे छुआ तक नहीं वह तहाँ पर मुर्दों-जैसा पड़ा रहा।" और भी—"क्या आप मुझे यह बतलाने का कष्ट करेंगे कि आपकी गाडी जिस पर इतना अधिक सामान लदा हुआ है केवल चार बैलों की मदद से चल रही है और मेरी गाडी जो लगभग बिलकुल खाली है छ बैलों और इतने सारे अलसेशियनो की सहायता के बावजूद भी सँभल नही पा रही है।"

ऐसा जान पडता है कि अनुवादक अपनी भाषा की मूल प्रकृति और अंग्रेजी की प्रकृति के अन्तर को भली-भाँति नही समझते। फिर यह अनुवाद भी रूसी के अनुवाद का अनुवाद है। इसलिए इस अनुवाद मे मूल कृति के साथ अन्याय हुआ है। हम इस प्रकार के प्रयासो मे अधिक सावधानी के पक्षपाती हैं।[1]

---

१. अनुवादक—श्री ओंकार शरद; प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा।

अवलोकन

डा० व्रजेश्वर वर्मा

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल पर शोध-कार्य

समय की अवधि, रचनाओं की प्रामाणिकता, भाषा के स्वरूप और प्रकृति तथा साहित्य की प्रवृत्ति आदि सभी दृष्टियों से आदिकाल की अवस्था अत्यन्त अनिश्चित है। फिर भी कबीर के पहले हिन्दी-साहित्य के अस्तित्व-मात्र को अस्वीकार करने का साहस साहित्य के किसी इतिहासकार को नही होता। यह निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश से विकसित होकर हिन्दी को एक स्वतन्त्र रूप प्राप्त हो गया था, किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व उसमे क्या और किस प्रकार का साहित्य रचा गया यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस अनिश्चित साहित्य को 'वीरगाथा काव्य' कहा है और वह नाम इतना प्रचलित हो गया है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास से उसको हटाना असम्भव-प्राय है। 'पृथ्वीराज रासो' की अप्रामाणिकता सिद्ध करने वाले तर्कों की अकाट्यता में विश्वास करते हुए भी उसे किसी-न-किसी रूप में हिन्दी का आदिकाव्य मान लिया जाता है तथा ऐतिहासिक स्रोतों से चन्द के पृथ्वीराज के दरबारी कवि होने की पुष्टि न होते हुए भी उसे हिन्दी का आदिकवि और पृथ्वीराज का चारण-मित्र समझा जाता है। हिन्दी-साहित्य की प्राचीनता को अधिकाधिक पीछे ले जाने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप गुरु गोरखनाथ को भी साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने हिन्दी का आदिकवि मानने का सकेत और उनके अस्तित्व के अनिश्चित समय को ९वी शताब्दी तक ले जाने का प्रयत्न किया है। इससे भी पीछे सातवी शताब्दी के किसी पुष्य नामक कवि को राजा भोज का दरबारी और हिन्दी का आदि-कवि बताया गया है। इसी प्रवृत्ति से सिद्ध साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मान-कर उसका इतिहास चौथी शताब्दी तक ले जाने का उद्योग हुआ है। सिद्ध-साहित्य की भाँति अपभ्रंश का जैन-साहित्य भी धार्मिक साहित्य है और उसे भी हिन्दी-साहित्य में सम्मिलित नही किया जा सकता।

कुल मिलाकर आदिकाल के अन्तर्गत सिद्ध और नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य तथा चारण-साहित्य का उल्लेख किया जाता है तथा इस विस्तीर्ण काल की भाषा को अपभ्रंश, अपभ्रंश का अन्तिम रूप, अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी का मिश्रित रूप तथा पुरानी हिन्दी अनेक कोटियों में रखा जाता है। वस्तुतः इस सम्पूर्ण साहित्य को एक ही काल में सम्मिलित करना

न तो उचित है और न सम्भव। हिन्दी में सबसे पहले महापंडित राहुल साकृत्यायन ने इस विषय की विस्तृत सामग्री उपस्थित करके तत्सम्बन्धी अध्ययन-अन्वेषण का दिशा-निर्देश किया है। यह सामग्री उनकी 'पुरातत्त्व निबन्धावली' तथा 'हिन्दी-काव्य-धारा' में प्रकाशित हुई है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में सिद्ध-साहित्य सम्बन्धी सामग्री का प्रचुर उपयोग किया है। नाथ साहित्य का अध्ययन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने इसी नाम के ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। अभी हाल में बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् के तत्त्वावधान में दिये गए उनके व्याख्यान 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' नाम से प्रकाशित हुए हैं। अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी डा० द्विवेदी ने इस सामग्री को सम्मिलित किया है। आदिकाल के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के अन्वेषण और मनन के परिणाम-स्वरूप जिन तथ्यों का निरूपण हुआ है उनसे निःसन्देह साहित्य के इतिहास में नवीन दृष्टि-पथ का निर्देश होगा।

विभिन्न विश्वविद्यालय-केन्द्रों में इस विषय का अनुसन्धान कई रूपों में हुआ है। हिन्दी के आदिकाल में सम्मिलित की जाने वाली अधिकांश सामग्री अपभ्रंश की है। निश्चय ही अपभ्रंश और हिन्दी के बीच का कोई संक्रमणकाल होना चाहिए और उस संक्रमण-काल के पूर्व का साहित्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास से बाहर समझा जाना चाहिए। फिर भी, हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए संस्कृत और संस्कृत से भी अधिक प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य के अन्वेषण की अनिवार्य आवश्यकता है। यह विषय इतना विस्तृत है कि किसी एक अध्ययन के अन्तर्गत उसका सम्पूर्ण विवेचन कठिन है। इस दिशा में डा० रामसिंह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव' शीर्षक प्रबन्ध प्रथम प्रयास है। यह प्रबन्ध सन् १९५१ में प्रयाग-विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। डा० हरिवंश कोचर का 'अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध गत वर्ष पी० एच० डी० के लिए दिल्ली-विश्वविद्यालय से स्वीकृत किया गया। हिन्दी के भक्ति-साहित्य-विशेष रूप से सन्त-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से सिद्ध-साहित्य का महत्त्व असंदिग्ध है। इसी वर्ष प्रयाग-विश्वविद्यालय से डा० धर्मवीर भारती का 'सिद्ध साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध डी० फिल० के लिए स्वीकृत हुआ है।

हिन्दी के तथाकथित वीरगाथा काल के साहित्य का अनुशीलन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। किन्तु प्रबन्ध के रूप में अभी तक केवल डा० उमेशचन्द्र त्रिपाठी का 'वीर-गाथा काल में ऐतिहासिक तथ्य' शीर्षक अध्ययन लखनऊ-विश्वविद्यालय से पी० एच-डी० के लिए स्वीकृत हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो'-जैसी बृहद् रचना के अध्ययन की अनेक सम्भावनाएँ हैं। किन्तु सन् १८८६ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित कविराज श्यामलदास के 'रासो' की अप्रामाणिकता-सम्बन्धी लेख से एक ऐसा विवाद प्रारम्भ हुआ जिसका आज भी कोई निर्णयात्मक अन्त नहीं हो पाया। इस सम्बन्ध में श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री, महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० श्यामसुन्दरदास, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, मुनि जिनविजय, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० दशरथ शर्मा, श्री नरोत्तमदास स्वामी आदि अनेक विद्वानों के महत्त्वपूर्ण तर्क, मत और अनुसंधान

सामने आए। किन्तु इस विवाद से सबसे प्रथम इस क्षति के अतिरिक्त कि उक्त सोसाइटी से होने वाला 'पृथ्वीराज रासो' का प्रकाशन स्थगित हो गया, यह भी हानि हुई कि उसके अध्ययन की बड़ी आसानी से उपेक्षा की जाने लगी। किन्तु 'पृथ्वीराज रासो' का स्वतन्त्र अध्ययन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसकी ओर ध्यान देने का निर्देश डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने एक निबन्ध में किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री नामवर-सिंह के सम्पादकत्व में अभी हाल में एक 'सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' नामक छोटा-सा ग्रन्थ निकला है। द्विवेदी जी ने सकेत किया है कि हो सकता है रासो का मूल रूप बहुत-कुछ इसी के आकार-प्रकार का हो। लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने पृथ्वीराज रासो का अध्ययन प्रस्तुत करके कलकत्ता-विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी और उनका प्रबन्ध हिन्दी के आदिकाल से सम्बन्धित सम्भवतः प्रथम शोध-प्रबन्ध है। व्यक्तिगत कवि तथा ग्रन्थ के अध्ययन के क्रम मे डा०टी०एन०वी० आचार्य का 'भारतीय मध्ययुग के सन्धिकाल का मनन—गुरु गोरखनाथ' शीर्षक प्रबन्ध सन् १९४८ मे आगरा-विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ था।

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है हिन्दी के आदिकालीन तथा उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंशकालीन के साहित्य के अध्ययन की अनेक सम्भावनाएँ हैं। साहित्य, समाज और सस्कृति के इतिहास के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान और पाठानुशीलन की दृष्टियो से उसके अन्वेषण में प्रचुर कार्य किया जा सकता है। वस्तुतः इस दिशा मे अब तक जो कार्य हुआ है वह अत्यन्त अपर्याप्त है। इस समस्त कार्य की इकाई यदि हम आदिकालीन साहित्य के पाठानुशीलन के साथ ग्रन्थो के वैज्ञानिक ढग से सम्पादित सस्करणों का प्रकाशन मानें, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि अभी तक इस काल के अध्ययन की प्रामाणिक सामग्री ही उपलब्ध नहीं है। वस्तुत. यह अभाव अध्ययन की सबसे बडी बाधा है। इस दिशा में डा० माताप्रसाद गुप्त ने श्री अगरचन्द नाहटा के द्वारा सकलित 'बीसलदेव रासो' की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठानुशीलन सहित जो सस्करण तैयार किया है वह एक स्तुत्य प्रयत्न कहा जा सकता है। डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोरख बानी' का परिचय तो हिन्दी पाठको को है ही। आदिकालीन साहित्य की हस्तलिखित सामग्री पुस्तकालयो और भडारों मे भी कम नहीं है, उसके अध्ययन-अनुशीलन की अविलम्ब आवश्यकता है।

अनुशीलन

डा० माताप्रसाद गुप्त

'बीसलदेव रास' की पाठ-समस्या

'बीसलदेव रास'—जिसे 'बीसलदेव रासो' नाम से प्राय हिन्दी-पाठक जानते हैं—हिन्दी-साहित्य का एक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण काव्य है। इधर राजस्थान के कुछ विद्वानो ने उसकी प्राचीनता के विषय में शका अवश्य की है, किन्तु वह प्राय. उस रूप के आधार पर की है जो काशी-नागरी-प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित है। सभा का सस्करण एक ऐसी शाखा की प्रतियो पर आधारित है जिसमे पाठ-वृद्धि बहुत हुई है, और जिसकी परम्परा एक दीर्घकाल तक कदाचित् मौखिक रही है। इसलिए उसमें यदि अपेक्षाकृत आधुनिकता मिलती है, तो वह स्वाभाविक है। किन्तु उसी पाठ के आधार पर मूल रचना की प्राचीनता के सम्बन्ध मे अविश्वास करना समीचीन नही माना जा सकता है।

'बीसलदेव रास' का प्रचार भी राजस्थान मे किसी समय बहुत अधिक रहा है, यही कारण है कि उसकी प्रतियाँ बहुतायत मे मिलती हैं। अकेले बीकानेर-निवासी श्री अगरचन्द नाहटा, विभिन्न स्थानों से इसकी पन्द्रह प्रतियाँ इकट्ठी की है। प्राचीनता और व्यापक प्रचार ने मिलकर 'बीसलदेव रास' के अनेक रूप-रूपान्तर कर दिए हैं, जिसके परिणामस्वरूप यह छोटी-सी रचना पाठ-समस्या के नाते भी हिन्दी के बड़े-से-बड़े ग्रन्थो से टक्कर लेती है। यह समस्या कितनी विकट है, इसका अनुमान नीचे के कुछ विवरणो से हो जायगा।

आकार-प्रकार के ध्यान से 'बीसलदेव रास' की प्रतियाँ निम्न लिखित वर्गों में रखी जा सकती हैं :

(१) जिनकी छन्द-सख्या—छन्दो और सख्याओं की पुनरावृत्तियाँ निकाल देने पर १६७ है।
(२) जिनकी छन्द-सख्या—इसी प्रकार—२४७ या २४६ है।
(३) जिनकी छन्द-सख्या—इसी प्रकार—२५८ है।
(४) जिनकी छन्द-सख्या—इसी प्रकार—२७४ है।
(५) जिनकी छन्द-सख्या—इसी प्रकार—२६४ है।
(६) जिनकी छन्द सख्या—इसी प्रकार—२६४ है, किन्तु जिसका अधिकाश (५) वर्ग से सर्वथा भिन्न है।
(७) जिनकी छन्द-सख्या—इसी प्रकार—३१४ है।

इन वर्गों में से सभी में समान रूप से मिलने वाले छन्द केवल ११८ हैं—जिनमें भी १० ऐसे हैं जो अंशतः ही विभिन्न वर्गों में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त १० छन्द ऐसे हैं जो केवल वर्ग (२), (४), (५), (६), (७) में मिलते हैं, ४३ ऐसे हैं जो केवल वर्ग (१), (२), (४), (५) में मिलते हैं, २१ केवल (१), (४), (५), (६) (७) में मिलते हैं, ६ केवल (१), (५), (६), (७) में मिलते हैं, ३ केवल (१), (६), (७) में मिलते हैं, ५ केवल (१), (४), (५) में मिलते हैं; १ केवल (१), (५) मे मिलता है, ७४ केवल (२), (४), (५) मे मिलते हैं, ३ केवल (२), (५) मे मिलते हैं; १ केवल (२) की एक प्रति तथा (४) में मिलता है, ४ केवल (४), (५) मे मिलते हैं, १४१ केवल (६), (७) में मिलते हैं, और इनके अतिरिक्त ३, ६, १, ६, तथा १६ छन्द केवल क्रमशः (२) की एक प्रति, (३), (४), (५) तथा (७) में अलग-अलग मिलते हैं। इस प्रकार समस्त वर्गों की प्रतियों मे कुल मिलाकर ४७१ विभिन्न छन्द आते हैं, जिनमें से ११८—अर्थात् केवल एक चौथाई—ऐसे हैं जो समान रूप से समस्त वर्गों में मिलते हैं।

इन वर्गों में कभी-कभी छन्दों की पुनरावृत्तियाँ इस प्रकार की हुई है कि एक पाठ उनमें उनकी अपनी शाखा का ज्ञात होता है तो दूसरा किसी अन्य शाखा का · वर्ग (१), (४), (५) में एक छन्द का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (६) (७) के अनुसार ज्ञात होता है, वर्ग (१), (५) एक छन्द का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (६), (७) के अनुसार ज्ञात होता है। वर्ग (४), (५) में एक छन्द का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (२) के अनुसार ज्ञात होता है, और वर्ग (६), (७) में एक छन्द किंचित् पाठ-भेद के साथ तीन बार आया हुआ है।

एक-एक वर्ग मे अलग-अलग भी छन्दो की इस प्रकार की आवृत्तियाँ मिलती हैं: (१) में एक छन्द का पाठ एक स्थान पर अपने वर्ग के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (६), (७) के अनुसार ज्ञात होता है, वर्ग (२) मे एक छन्द का पाठ एक स्थान पर अपने वर्ग के अनुसार तथा अन्यत्र वर्ग (१) के अनुसार ज्ञात होता है, वर्ग (५) मे तीन छन्दो का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (२) के अनुसार ज्ञात होता है।

विभिन्न वर्गों में छन्दो की ऐसी स्वतन्त्र पुनरावृत्तियाँ भी मिलती हैं, जिनका सम्बन्ध किसी अन्य वर्ग से नहीं ज्ञात होता है। वर्ग (२) में इस प्रकार की पुनरावृत्ति एक छन्द की तथा वर्ग (५) मे भी एक छन्द की हुई है।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि इन वर्गों मे एक ही छन्द के दो विभिन्न पाठों की पक्तियाँ एकत्र मिलती हैं. वर्ग (४), (५) मे दो छन्द ऐसे हैं जिनमें वर्ग (१) तथा (२) दोनों के पाठो की कुछ पक्तियाँ साथ-साथ मिलती हैं, वर्ग (५) में चार छन्द ऐसे हैं जिनमें वर्ग (१) तथा (२) के पाठों की कुछ पक्तियाँ साथ-साथ मिलती हैं, पुनः वर्ग (५) मे एक छन्द ऐसा है जिसमें वर्ग (१) के तथा (४) के पाठों की कुछ पंक्तियाँ साथ-साथ मिलती हैं।

कुछ पाठ-भेद के साथ कभी-कभी इन वर्गों मे केवल पक्तियों की पुनरावृत्ति भी हुई है: इस प्रकार के तेरह उदाहरण समान रूप से वर्ग (१), (२), (४), (५) में, चार (१), (४), (५), (६), (७) में, तीन (१), (५), (६), (७) में, पाँच (१), (६), (७) मे, दो (१), (४), (५) में, चार (१), (५) में, इक्कीस (२), (४), (५) में, तीन (२) (४) में, तथा सात (४) में मिलते हैं। (६), (७) में तो एक पक्ति की आवृत्ति कम-से-कम छः बार, एक अन्य की पाँच

बार, दो अन्य की चार बार, दो अन्य की तीन बार, तथा तैंतीस अन्य की दो बार हुई है।

पक्तियों की ऐसी स्वतन्त्र आवृत्तियाँ भी मिलती हैं, जो विभिन्न वर्गों में उनकी अपनी प्रतियों तक ही सीमित हैं : वर्ग (१) में इस प्रकार की सात तथा (२) में छः हैं।

ये तो कुछ बहुत स्थूल विवरण हुए, और इन्हीं के आधार पर विभिन्न वर्गों में पंक्तियों, शब्दों, व्याकरण-रूपों आदि-आदि के सम्बन्ध मे कितना पाठान्तर होगा इसकी कल्पना सुगमता से की जा सकती है। फलतः यह प्रकट हो गया होगा कि 'बीसलदेव रास' की पाठ-समस्या कितनी जटिल है।

प्रश्न यह है कि क्या ये सभी छन्द और पाठ अलग-अलग 'बीसलदेव रास' के रचयिता के ही माने जाने चाहिएँ, या कुछ उसके, और कुछ प्रक्षेपकारों के और यदि पिछली परिस्थिति स्वीकार की जाती है, तो कौन से छन्द और कौन से पाठ मूल रचयिता के माने जा सकते है, और कौन से प्रक्षेपकारों के, और यदि इसी दिशा में और आगे बढा जाता है, तो प्रश्न उठता है कि कोई विशेष छन्द अथवा पाठ क्यो मूल रचयिता के माने जायँ और शेष क्यो प्रक्षेपकारो के माने जायँ।

हिन्दी के पाठ-सम्पादक को इस प्रकार की समस्याओं ने पहले कभी उलझन में नहीं डाला है। उसके पास पाठ-निर्णय का एक ब्रह्मास्त्र रहता था—वह था उसकी अपनी सुरुचि। और हिन्दी पाठक के पास चुपचाप उसके इस ब्रह्मास्त्र के सामने सिर झुकाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। किन्तु आज का पाठ-सम्पादक इन समस्याओं को सुलझाना, और वैज्ञानिक पद्धति पर सुलझाना—पाठ-विकृतियों की समस्त प्रवृत्तियों और प्रणालियों का पूरा ज्ञान प्राप्त करके कृति की पाठ-परम्पराएँ निर्धारित करते हुए उसके मूल रूप तक पहुँचने की चेष्टा करना—अपना कर्तव्य समझता है। वह अपने समझदार और जिज्ञासु पाठक के सामने अपनी वे समस्त क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ भी स्पष्ट कर देना चाहता है, जिनकी सहायता से उसने अभीष्ट लक्ष्य—मूल रचयिता के पाठ—को प्राप्त करने का प्रयास किया है।

●

परशुराम चतुर्वेदी

मानस की हेतु-कथाएँ

मानस की मूल राम-कथा पर इधर यथेष्ट विचार होता रहा है, किन्तु प्रारम्भ में कुछ कथाएँ ऐसी भी मिलती हैं जो मूल कथा की हेतु-कथाओं के रूप में दी गई हैं। इस कारण वे कथाएँ रावण-चरित की भाँति, रामावतार का प्रादुर्भाव होने के पहले ही आ जाती हैं। रावण-चरित और इनमें इस बात का अन्तर है कि वह जहाँ केवल अधूरा-सा रह जाता है और उसका अन्त राम-कथा मे पहुँचकर नही होता है वहाँ ये सभी स्वतः पूर्ण हैं और ये वस्तुतः रावणादि के जन्म की-सी पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं। ऐसी हेतु-कथाओं में सबसे बड़ी राजा प्रतापभानु

की कथा है[1] जो रावण-चरित के ठीक पहले आती है और जिसमें 'विप्र-श्राप'-वश, उस राजा को सपरिवार 'निशाचर' होना पडता है।[2] यह कथा सम्भवतः 'मजुल रामायण' से ली गई है जो अगस्त्य मुनि के शिष्य सुतीक्ष्ण द्वारा लिखित एक लाख बीस हजार श्लोकों का ग्रन्थ प्रसिद्ध है।[3] कहते हैं कि स्वय अगस्त्य मुनि ने भी किसी 'अगस्त्य-रामायण' की रचना की थी जिसमें यह कथा पाई जाती है। पता नहीं दोनों मे क्या अन्तर है। मानस की एक दूसरी हेतु-कथा 'नारद-मोह-प्रसग' के रूप मे आती है, जिसमे नारद के शाप का प्रभाव दो 'महेस गन' और स्वय विष्णु तक पर पड़ता है। दोनो 'महेस गन' विपुल वैभव-सम्पन्न तथा शक्तिशाली 'निसिचर' के रूप में जन्म लेकर विश्व-विजय करते है उन्हें युद्ध मे मारने के हेतु विष्णु को न केवल मनुज-तनु धारण करना पडता है, अपितु उन्हे नारी-विरह के कारण दुःख भी उठाना पडता है और वानरो तक से सहायता लेनी पड जाती है।[4] कवि ने उस कथा को 'शिव पुराण' से लिया होगा यद्यपि इसका एक रूप 'अद्भुत रामायण' में भी उपलब्ध है। 'शिव पुराण' के वृत्तान्त से यह अधिक निकट है, इसमे केवल पौराणिक अम्बरीष की पुत्री श्रीमती शीलनिधि की कन्या विश्व-मोहिनी बन गई है।[5] इस प्रकार की अन्य हेतु-कथाओं में से दो अर्थात् जय-विजय एव जलधर से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ केवल सक्षिप्त रूप मे ही दी गई है। विष्णु के द्वारपाल जय और विजय, एक के अनुसार, 'विप्र-श्राप' के कारण पहले हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष होते है और वाराह-वतार तथा नृसिंहावतार द्वारा मारे जाते हैं और अन्त मे, फिर उनको कुम्भकर्ण एव रावण के रूपो मे भी जन्म लेना पडता है।[6] दूसरी कथा के अनुसार जलधर शिव से सग्राम करके जब उन्हे असफल बना देता है तो विष्णु उनकी सहायता के लिए उसकी पत्नी का पातिव्रत भग करते है। विष्णु को उसकी पत्नी शाप देकर नर-रूप धारण करने को बाध्य करती है और वह स्वय भी रावण के रूप में जन्म लेता है।[7] जय-विजय की कथा 'आनन्द रामायण' से ली गई जान पडती है जहाँ पर उनके तीसरे जन्म मे शिशुपाल, दन्तवक्र होने की भी चर्चा की गई है।[9] 'आनन्द रामायण' में जलधर की भी कथा आती है, जहाँ कहा गया है कि उसकी पत्नी वृन्दा के शापवश विष्णु के सहायक जय-विजय को ही राक्षस-रूप धारण करना पड़ा था और विष्णु के नर-रूप मे अवतीर्ण होने पर उनकी पत्नी का अपहरण हुआ था।[8] 'रामचरितमानस' के जय-विजय इस प्रकार राक्षस का जन्म नहीं पाते प्रत्युत यहाँ स्वय जलधर ही रावण के रूप में प्रकट हो जाता है।

हेतु—कथाओं का एक दूसरा रूप उन वृत्तान्तो में लक्षित होता है जिनका किन्ही रावणादि राक्षसो के जन्म-ग्रहण करने के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। ऐसी कथाओं मे विशेष रूप से उल्लेखनीय मनु एव शतरूपा की तपश्चर्या एव उसके परिणाम-स्वरूप भगवान् की अपने पुत्र-रूप में प्राप्ति की कथा कही जा सकती है। इसके अनुसार 'स्वायम्भुव मनु' बहुत दिनों तक राज्य करके अपने चौथेपन में सस्त्रीक गोमती-तट पर तपस्या करते हैं और उनके

१ 'रामचरित मानस' : बाल-काण्ड दोहा १७६, ८४। २. वही, दोहा १२१, ७५।
३. रामदास गौड़ 'हिन्दुत्व' · काशी : पृ० १३७, ८। ४ 'रामचरितमानस' . बाल काण्ड · दोहा १२५, ३१। ५. 'राम-कथा' . डा० बुल्के : पृ० २७५, ६।
६ 'रामचरितमानस' : बाल-काण्ड : दोहा १२२, ३। ७. वही, दोहा १२३, ४।
८ 'रामकथा' . डा० बुल्के : पृ० ४२०। ९. वही, पृ० २७५।

'अपार' तप द्वारा प्रभावित होकर अन्त में, स्वय 'विश्ववास भगवान्' प्रकट होते तथा उन्हें उनके यहाँ पुत्र-रूप में जन्म लेने का वचन देते हैं। उस अवसर पर वे यह भी कह देते हैं कि 'स्वायम्भुव मनु' को उस दशा में 'अवध भुआल' के रूप में रहना पड़ेगा और मैं अपने अंशों के साथ आऊँगा।[१] स्वायम्भुव मनु एव शतरूपा की यह कथा 'पद्म-पुराण' : उत्तर खण्ड : के २६९वें अध्याय में आती है। किन्तु ये दोनों वहाँ भगवान् को अपने पुत्र-रूप में तीन बार तक पाते हैं और स्वय भी क्रमशः दशरथ-कौशल्या, वसुदेव-देवकी एव हरिगुप्त-देवप्रभा के रूपों मे अवतार ग्रहण करते हैं।[२] इस प्रकार की एक अन्य हेतु-कथा का उल्लेख 'मानस' के उस स्थल पर हुआ है जहाँ जय-विजय की उक्त कथा समाप्त कर दी गई है और बतलाया गया है कि उन्हीं दोनों के कारण एक बार विष्णु ने कश्यप और अदिति के घर भी पुत्र-रूप मे जन्म ग्रहण किया था।[३] यह बात फिर अन्यत्र भी दुहराई गई जहाँ भयभीत देवतादि को सान्त्वना देते हुए 'गगन-गिरा' द्वारा कहा गया है कि कश्यप एव अदिति ने बड़ी तपस्या की थी जिस कारण मैंने उन्हें पहले से ही वर दे रखा है और मैं उनके दशरथ-कौशल्या रूप मे रहते समय 'कौशलपुरी' मे जन्म लूँगा।[४] कश्यप एव अदिति की कथा का यह रूप 'वाल्मीकीय रामायण' मे नही पाया जाता। यह सभवतः 'अध्यात्म रामायण' पर निर्भर है।

●

राहुल सांकृत्यायन

भाषा का प्रश्न

भाषा के प्रश्न की जटिलता इसलिए बढ जाती है कि हम भाषा के बोलने वालों से इस प्रश्न का निर्णय करते समय पूछना नहीं चाहते हैं। संक्षेप में इसके बारे में हमें निम्न बातें साफ-साफ दीखती है।

(१) हमारा देश बहुभाषिक और बहुजातिक है।

(२) अपने क्षेत्र मे वहाँ के अधिकाश लोगों की मातृ-भाषा शिक्षा और सरकारी कारोबार का माध्यम होनी चाहिए। इस प्रकार बगाल मे बगला, उडीसा में उड़िया, आन्ध्र में तैलुगु आदि के सर्वेसर्वा होने को हमें मान लेना चाहिए, क्योंकि, लोगों की राय लिये जाने पर यही उनकी इच्छा मालूम होगी। वहाँ के निवासी अपनी भाषा और भाषानुसार प्रान्त स्वीकृत कराने के लिए बहुत कडाई के साथ आग्रह करते हैं।

(३) बहुभाषिक होने के कारण भारत में सम्मिलित व्यवहार के लिए, वैदेशिक सम्बन्ध, प्रदेशों के आपसी तथा प्रदेश और केन्द्र के व्यवहार के वास्ते एक सम्मिलित भाषा—सघ भाषा—की आवश्यकता है। ऐसा न करने पर अंग्रेजी से हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता, अंग्रेजी को

१ 'रामचरित मानस' . बाल-काण्ड : दोहा १४२, ४२। २. वही दोहा १२३।
३. 'राम-कथा' : डा० बुल्के . पृ० २७३, ४। ४. वही, दोहा १८७।

स्वीकार करने का मतलब है, जनता को अलग रखना।

(४) संघ-भाषा वही हो सकती है, जिससे देश के बहुसंख्यक लोग परिचित हों, और जिसके शब्द में प्रादेशिक भाषाओं के बहुत अधिक शब्द हों।

(५) ऐसी भाषा हिन्दी ही है, जो प्रायः आधे भारत तक शिक्षा का माध्यम हो चुकी है, और प्रादेशिक भाषाओं की तरह अपने प्रारम्भिक काल से ही संस्कृत से आवश्यक शब्दों के लेने के कारण यह दूसरे प्रदेश वालों के लिए सुगम है। उर्दू इस बात में हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं से बिलकुल उलटी दिशा रखते हुए अरबी से अपने शब्द-कोश को समृद्ध करती चली आई है, इसलिए उसको संघ-भाषा मानने पर प्रादेशिक भाषाओं के लिए भारी कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

(६) किन्तु, हिन्दी या किसी और भाषा को संघ-भाषा के तौर पर स्वीकार करना प्रादेशिक भाषाओं के प्रतिनिधियों की सहमति से ही होना चाहिए।

(७) 'हिन्दी-क्षेत्र' अब भी (१) बिहार, (२) उत्तर प्रदेश, (३) मध्य प्रदेश, (४) मध्य-भारत, (५) राजस्थान, (६), विन्ध्य प्रदेश, (७-८) पंजाब-पेप्सू के भाग, (९) हिमाचल प्रदेश, (१०) अजमेर, (११) भूपाल के ग्यारह टुकड़ों में मनमानी तौर से बाँट दिया गया है। यदि उसकी जगह भाषानुसार इसे (१) हरियाना, (२) राजस्थान, (३) मालवा, (४) बुन्देलखण्ड, (५) ब्रज, (६) कुरु, (७) हिमाचल, (८) अवध, (९) भोजपुर (काशी-मल्ल), (१०) मिथिला, (११) मगह आदि में बाँट दिया जाय, तो इसमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए? आज के ग्यारह प्रदेशों को रखने में शासन-व्यय के खर्च की बात नहीं उठाई जाती, किन्तु भाषानुसार प्रदेशों को पुनर्गठित करने पर खर्च का हौवा क्यों उठाया जाता है? जनता की भाषा शिक्षा और साक्षरता के प्रसार में थोड़े ही दिनों मे आशातीत सफलता प्राप्त करा सकती है, और पंचायतो तथा स्थानीय संस्थाओं (जिला-बोर्डों और नगरपालिकाओं) के स्वायत्त-शासन में जनता का सहयोग उसकी भाषा बिना नहीं मिल सकता, यह तो निश्चित है।

(८) जनतान्त्रिक युग मे जनता की भाषा की अवहेलना बहुत दिनो तक नहीं की जा सकती, आखिर भवितव्यता के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।

(९) 'हिन्दी क्षेत्र' की भाषाओं में ब्रज, राजस्थानी, अवधी और मैथिली बहुत पुराने समय से साहित्यिक भाषाएँ है, और दूसरी भाषाओं का भी पुराना लिखित साहित्य न होने के कारण उन्हे हम बोलियाँ नहीं कह सकते, क्योंकि वह सब तरह के भावों को प्रकट करने मे समर्थ हैं, और आजकल उनमें साहित्य तैयार होने भी लगा है।

(१०) हरेक बालक-बालिका को अपनी मातृ-भाषा में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए, और सारे देश मे जहाँ भी निर्धारित अल्पमत-संख्या में विद्यार्थी मिलें, वहाँ उनके लिए अपनी भाषा के विशेष स्कूल खोलने चाहिएँ।

(११) उक्त सिद्धान्त के अनुसार उर्दू भाषा-भाषियों को उर्दू के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए, और यदि कोई छोटे-से-छोटा भी क्षेत्र ऐसा मिले, जहाँ के अधिकांश लोगों की भाषा उर्दू है, वहाँ उर्दू को राज्य-भाषा बनाया जाना चाहिए। लेकिन, 'हिन्दी-क्षेत्र' के ऊपरपरिगणित भाषाओं के प्रदेशों में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ के बहुसंख्यक लोग अपनी भाषा उर्दू मानते हैं, इसलिए वहाँ उर्दू को राज्य-भाषा बनाने का प्रयत्न बहु-

सख्यक जनता की इच्छा के विरुद्ध होगा, जिसका परिणाम उर्दू-भाषियों के लिए भी अच्छा नहीं होगा—नाहक कटुता पैदा होगी, जिसका लाभ सम्प्रदायवादी उठायेंगे। उर्दू के लिए अच्छा यही है कि वह अरबी अक्षरों का मोह छोड़कर नागरी को अपना ले, ताकि अधिक-से-अधिक लोग उसे पढ़ सकें। पुराने समय में शासकों की सांस्कृतिक पृथक्करण की नीति ने उर्दू (अरबी-फारसी-मिश्रित हिन्दी) को जन्म दिया। आज पृथक्करण नहीं, सांस्कृतिक समन्वय हमारे देश और दूसरे देशों में भी ध्येय माना जाता है, नागरी लिपि को अपनाकर हम उसमें एक कदम आगे बढ़ते हैं।